(५) पूर्णप्रज्ञ-दर्शनम्

तत्त्वद्वयं स्वपरतन्त्रमिहेति भेदो
जीवोऽणुरीश्वर इतो जगतो निमित्तम् ।
वेदान्तभाष्यमिति तत्र मतं विधात्रे
मध्वाय पूर्णधिषणाय नमश्चिराय ।।—ऋषिः ।

(१. द्वैतवाद की रामानुजमत से समता और विषमता)

तदेतद्रामानुजमतं जीवाणुत्व-दासत्व-वेदापौरुषेयत्व-सिद्धार्थबोधकत्व-स्वतः प्रमाणत्व-प्रमाणत्रित्व-पञ्चरात्रोपजीव्यत्व-प्रपञ्चभेदसत्यत्वादिसाम्येऽपि परस्परविरुद्धभेदादिपक्षत्रयकक्षीकारेण क्षपणकपक्षनिक्षिप्तमित्युपेक्षमाणः, 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिवेदान्तवाक्यजातस्य भङ्ग्यन्तरेणार्थान्तरपरत्वमुपपाद्य ब्रह्ममीमांसाविवरणव्याजेन आनन्दतीर्थः प्रस्थानान्तरमास्थिषत ।

रामानुज के दर्शन में [हमारे दर्शन = द्वैतवाद से] इन बातों में समता है—जीव को अणु (Atomic) मानना, उसे ईश्वर का दास मानना, वेदों को अपौरुषेय (नित्य) मानना, वेदों को सिद्ध वस्तु (ब्रह्म) का बोधक मानना, वेदों को अपने-आप में प्रमाण मानना (परतः प्रमाण नहीं मानना), तीन प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) मानना, पञ्चरात्र-ग्रन्थ पर अपने सिद्धान्तों को आधारित करना, प्रपंच और उसके भेदों (आत्मा से आकाशादि की भिन्नता) को सत्य मानना इत्यादि । इतना होने पर भी परस्पर विरोधी (Mutually Contradictory) भेद, [अभेद तथा भेदाभेद के] रूप में तीन पक्षों को स्वीकार करने से (देखिये रामानुजदर्शन, अनु० १६) उक्त-दर्शन क्षपणकों (जैनों) के [सप्तभंगीनय की तरह विरोधी] पक्षों को स्वीकार करने की मूर्खता करता है—इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं । 'वह आत्मा है, वह तुम्हीं हो' (छा० ६।८।७) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों में वे दूसरी भंगी (तात्पर्य) से दूसरा ही अर्थ सिद्ध करते हैं । आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य, पूर्णप्रज्ञ) ने उक्त बातें दिखलाते हुए ब्रह्ममीमांसा (ब्रह्मसूत्र) की व्याख्या

(विवरण = व्याख्यानग्रन्थ का व्याख्यान) करने के बहाने एक नवीन प्रस्थान (सम्प्रदाय System of Philosophy) ही प्रवर्तित कर दिया है।

विशेष—माधवाचार्य ने पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का आरंभ बहुत सुन्दर ढंग से किया है। बहुत ही संक्षेप में रामानुज और मध्व के सिद्धान्तों की तुलना हो गई। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत है जिसमें ईश्वर को चिद् अचिद् से विशिष्ट मानकर, तीन तत्त्व प्रतिपादन करने पर भी अद्वैत (Monism) का पक्ष लिया गया है। मध्व इस प्रच्छन्नता से दूर भागते हैं। वे सीधे द्वैतमत (Dualism) का ही प्रस्थान रखते हैं जिसमें स्वतंत्र परमेश्वर तथा परतंत्र जीव को स्वीकार किया जाता है। दोनों हो श्रौत दार्शनिक हैं, श्रुतियों पर आधारित हैं, पञ्चरात्र का स्मृति-रूप में आधार लेते हैं—तर्कबल से अपने सिद्धान्तों को स्थापना करते हैं, प्रच्छन्न तार्किक हैं। इसलिए बहुत दूर तक दोनों में साम्य है।

परन्तु रामानुज मध्व से कुछ अधिक चतुर हैं क्योंकि एक ओर तो लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधकर जैनों के स्याद्वाद की निन्दा करते हैं (देखिए, आरंभिक अंश), दूसरी ओर कहते हैं कि—'सर्वं तत्त्वम्, भेदोऽभेदोऽभेदाभेदाश्च'। अन्तर इतना ही है कि जैन सात विरोधी वाक्य रखते हैं, रामानुज तीन से ही संतुष्ट हैं। पर तत्त्व वही है। रामानुज छिपकर चलते हैं कि तत्त्व अद्वैत है, पर उसके दो विशेषण भी हैं। मध्व बेचारे सीधे-सादे आदमी, बिना किसी दुराव के दो तत्त्व पृथक्-पृथक् मान लेते हैं। दोनों आचार्यों को अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए मूल श्रुतियों, वेदान्तसूत्रों आदि को तोड़ना मरोड़ना पड़ा है जिसमें कोई भी नहीं हिचकते।

(२. द्वैतवाद के तत्त्व—भेद की सिद्धि)

तन्मते हि द्विविधं तत्त्वं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। तदुक्तं तत्त्वविवेके—

१. स्वतन्त्रं परतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान्विष्णुर्निर्दोषोऽशेषसद्गुणः ॥ इति।

इन (आनन्दतीर्थ) के मत से दो प्रकार के तत्त्व हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। तत्त्वविवेक नाम के ग्रन्थ में कहा गया है—'दो प्रकार का तत्त्व रखा जाता है, स्वतंत्र और परतंत्र। इनमें स्वतंत्र स्वयं भगवान् विष्णु हैं जो निर्दोष हैं तथा [स्वतंत्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि] सभी अच्छे-अच्छे गुणों से भरे हुए हैं।'

ननु सजातीय-विजातीय-स्वगत-नानात्वशून्यं ब्रह्म तत्त्वमिति प्रतिपादकेषु वेदान्तेषु जागरूकेषु कथमशेषसद्गुणत्वं कथ्यत इति चेत्, मैवम्। भेदप्रमापकबहुप्रमाणविरोधेन तेषां तत्र प्रामाण्यानुपपत्तेः। तथा हि, प्रत्यक्षं तावदिदमस्माद्भिन्नम् इति नीलपीतादेर्भेदमध्यक्षयति।

[अद्वैत-वेदान्ती ऐसी शंका कर सकते हैं—] ब्रह्मतत्त्व सजातीय (अपनी जाति में), विजातीय (दूसरी जाति के पदार्थों से) तथा स्वगत (अपने आप में विशेषणों के द्वारा), इन तीनों भेदों (नानात्व) से रहित है— इस प्रकार की बातें प्रतिपादित करनेवाले उपनिषद्-वाक्यों के रहते हुए आप लोग ईश्वर के विषय में यह कैसे कहते हैं कि वह सभी सद्गुणों से भरा हुआ है ? [हमारा उत्तर यह है कि] ऐसी बात नहीं है, बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो भेद को ही प्रमाणित करते हैं उनके साथ उक्त उपनिषद्-वाक्यों का विरोध होगा और इसलिए उन्हें (भेदशून्य ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों को) हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष को ही लें, 'यह (वस्तु) उस (वस्तु) से भिन्न है' इस प्रकार नील-पीत आदि पदार्थों में भेद की सत्ता को वह (प्रत्यक्ष) प्रमाणित करता है।

विशेष—भेद तीन प्रकार के हैं क्योंकि उनमें 'प्रतियोगी तीन प्रकार के होते हैं—सजातीय, विजातीय, तथा स्वगत। जिस भेद में प्रतियोगी (Opponent) अपनी जाति (Class) का ही हो उसे सजातीय भेद कहते हैं परमात्मा का जीवात्मा से किया गया भेद या एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से किया गया भेद सजातीय (Homogeneous) भेद है। प्रतियोगी दूसरी जाति का होने पर भेद भी विजातीय होता है जैसे परमात्मा का आकाशादि प्रतियोगियों से दिखलाया गया भेद या पेड़ का पत्थर से भेद। दोनों की दो जातियाँ होने से भेद विजातीय (Heterogeneous) है। स्वगत (Internal) भेद वह है जिसमें किसी वस्तु का उसके अवयवों (स्वगत) से भेद कराया जाय। उदाहरणार्थ परमात्मा का अपने अन्दर विद्यमान करुणा, आनन्द आदि विशेषणों से भेद या वृक्ष का भेद फल, फूल, पत्तों से करना स्वगत-भेद है।

उक्त तीनों भेदों का निषेध 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के विषय में होता है। श्रुति का अर्थ यही है कि तत्त्व एक ही था उसमें कोई भेद नहीं, किन्तु यदि उन्हें सगुण

मानते हैं तो गुणों के साथ होने वाला कम से कम स्वगत भेद तो उनमें अवश्य ही होगा। अतः उक्त श्रुति का विरोध द्वैत-मत का प्रतिपादन करने से होता है। किन्तु मध्वाचार्य ऐसी श्रुतियों की प्रामाणिकता इसलिए स्वीकार नहीं करते कि परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करनेवाले बहुत से प्रमाण हैं। उनका भी अपलाप करना संभव नहीं है।

इसके बाद विभिन्न प्रमाणों से भेद की सिद्धि की चेष्टा की जाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों प्रमाण के रूप में रखे जाते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण तो स्पष्ट बतलाता है कि संसार में भेद की सत्ता है। नील से पीत, मनुष्य से पशु, पुस्तक से पाषाण क्या भिन्न नहीं ?

(३. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—शंका)

अथ मन्येथाः—किं प्रत्यक्षं भेदमेवावगाहते किं वा धर्मिप्रतियोगिघटितम् ? न प्रथमः, धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण तत्सापेक्षस्य भेदस्याशक्याध्यवसायात्। द्वितीयेऽपि धर्मिप्रतियोगिग्रहणपुरःसरं भेदग्रहणमथवा युगपत्तत्सर्वग्रहणम् ?

न पूर्वः, बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात्। अन्योन्याश्रयप्रसङ्गाच्च। नापि चरमः, कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्याभावात्। धर्मिप्रतीतिर्हि भेदप्रत्ययस्य कारणम्। एवं प्रतियोगिप्रतीतिरपि। संनिहितेऽपि धर्मिणि व्यवहितप्रतियोगिज्ञानमन्तरेण भेदस्याज्ञातत्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावावगमात्। तस्मान्न भेदप्रत्यक्षं सुप्रसरमिति चेत्।

[भेद ज्ञान को अस्वीकार करते हुए शंकराचार्य के अनुयायी भेद के विषय में शंका करते हैं—] आप क्या मानते हैं, क्या प्रत्यक्ष (Perception) सीधे भेद का ही ज्ञान करा देता है या वह धर्मी (वस्तु) तथा उसके प्रतियोगी (विरोधी वस्तु) के ज्ञान के आधार पर [भेद का ज्ञान कराता है] ?[1] पहला विकल्प नहीं मान सकते क्योंकि जब तक धर्मी का और उसके प्रतियोगी (Opponent) का ज्ञान नहीं होगा, तब तक उन्हीं दोनों पर निर्भर

१. किसी भी भेद मे दो बातें अनिवार्य हैं। एक धर्मी जिससे भेद कराया जाता है, इसे ही मूल वस्तु भी कहते हैं, दूसरा प्रतियोगी अर्थात् विरोधी वस्तु। 'नीलं पीताद् भिन्नम्' में नील धर्मी है, पीत प्रतियोगी।

करनेवाले भेद का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है [आधार—धर्मी और प्रतियोगी—के ज्ञान के बिना आधेय का कैसे ज्ञान होगा ? नील और पीत—दोनों को यथावत् समझने पर ही दोनों में भेद समझ सकते हैं। यदि सीधे भेद का प्रत्यक्ष करने का दम्भ रखें तो यह व्यर्थ है, असंभव है।]

यदि दूसरा विकल्प लेते हैं [कि धर्मी और प्रतियोगी के आधार पर भेद का ज्ञान होता है] तो पूछें कि भेद का यह ज्ञान धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के पश्चात् होता है या सबों (तीनों) का ज्ञान एक ही साथ (युगपत् Simultaneously) हो जाता है।

उक्त प्रश्न का प्रथम विकल्प ग्राह्य नहीं है क्योंकि बुद्धि जब एक बार ठहर जाती है तब आगे कार्य संचालन नहीं कर पाती। [१ 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा शब्द एक विशेष प्रकार के जल का अर्थ देता है। उतने व्यापार के बाद ही वह शब्द विरत हो जाता है। घोष से सम्बन्ध दिखलाने के लिये गङ्गा का तटरूपी अर्थ वह शब्द नहीं बतला सकता। ऐसा करने से 'गङ्गा के किनारे गाँव' का अर्थ बिल्कुल संगत हो जाता। किन्तु वहाँ तक तो उसकी पहुँच ही नहीं है, करे तो क्या करे ? इसलिये तट-रूपी अर्थ की उपस्थापना, लक्षणा-शक्ति द्वारा, सामीप्य सम्बन्ध से, 'गङ्गा' शब्द का अर्थ 'जल' ही कर सकता है; जल के निकट होने के कारण 'तट' अर्थ हो गया। गङ्गा शब्द कुछ नहीं कर सका—लक्षणा अर्थ की ही हुई, शब्द की नहीं। सारांश यह कि शब्द अपना व्यापार करके विरत हो जाता है। २. कोई धनुर्धर बहुत तेजी से बाण चलाता है, यद्यपि बाण में ६० गज जाने की सामर्थ्य है परन्तु ३० गज जाते ही उसे कोई रोक लेता है, बस उसका व्यापार रुक गया, एक अंगुल भी वह बाण अब नहीं बढ़ सकता। अतः कर्म रुक जाने पर अपना अगला व्यापार बन्द कर देता है। ३. धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान कर लेने पर बुद्धि विरत हो जाती है, लाख चेष्टा करने पर भी 'भेद' को अपना विषय नहीं बना सकती। अतः बुद्धि भी विरत हो जाने पर व्यापार (Activity) नहीं दिखला सकती। इसे ही साहित्यशास्त्रियों ने कहा है—**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।** (देखें, काव्यप्रदीप, उल्लास ५।) दूसरे, इसमें अन्योन्याश्रय-दोष (Fallacy of mutual dependence, a logical seesaw) भी उत्पन्न हो जायगा। [भेद के ज्ञान के लिये धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित है, तथा धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के लिये भेद-ज्ञान की आवश्यकता है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होगा।]

इसका दूसरा विकल्प भी ग्राह्य नहीं [कि धर्मी, प्रतियोगी और भेद—तीनों का ग्रहण एक ही साथ हो जायगा] क्योंकि कार्य (भेद-ज्ञान) और

कारण (धर्मि-प्रतियोगि-ज्ञान) के रूप में गृहीत बुद्धियों की सत्ता एक साथ नहीं हो सकती। धर्मी की प्रतीति (ज्ञान Apprehension) भेद-ज्ञान का कारण है, उसी प्रकार प्रतियोगी की प्रतीति भी [भेद-ज्ञान का कारण है]। यदि धर्मी निकट में भी हो किन्तु दूरस्थित प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हो तो भेद का ज्ञान नहीं ही हो सकेगा, [उसी प्रकार धर्मी और प्रतियोगी दोनों के रहने पर भेद का ज्ञान हो जाता है]—इसलिये अन्वय और व्यतिरेक के नियमों द्वारा हम लोग [धर्मी + प्रतियोगी और भेद के बीच] कार्य-कारण का सम्बन्ध जान लेते हैं। [कोई यह शंका न करे कि भेद और धर्मिप्रतियोगी में कार्य-कारण-सम्बन्ध कहाँ है, इसलिये पहले ही दिखला दिया गया है।]

इस प्रकार भेद का प्रत्यक्षीकरण (या प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद का ज्ञान) नहीं हो सकता—यह [अद्वैतवेदान्ती की] शंका है।

(३ क. प्रत्यक्ष से भेद-सिद्धि—समाधान)

किं वस्तुस्वरूपभेदवादिनं प्रति इमानि दूषणानि उद्घुष्यन्ते, किं वा धर्मभेदवादिनं प्रति? प्रथमे चोरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्यायापातः। भवदभिधीयमानदूषणानां तदविषयत्वात्।

ननु वस्तुस्वरूपस्यैव भेदत्वे प्रतियोगिसापेक्षत्वं न घटते घटवत्। प्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वत्र भेदः प्रथत इतिचेन्न। प्रथमं सर्वतो विलक्षणतया वस्तुस्वरूपे ज्ञायमाने प्रतियोग्यपेक्षया विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः।

ये सारे दोष किस के सिर पर आरोपित हो रहे हैं? क्या वस्तु (घटादि) के स्वरूप (गोलाकार कम्बुग्रीव आदि) को ही भेद मानने वाले लोगों के प्रति (स्मरणीय है कि मध्वाचार्य इसे ही भेद कहते हैं), या उन लोगों के प्रति जो वस्तु (घटादि) से भिन्न उस वस्तु के ही धर्मों को लेकर भेद मानते हैं (जैसा कि वैशेषिक दर्शन में मानते हैं)? [मध्वाचार्य एक ही वस्तु में उसके स्वरूप और वस्तु में भेद मानते हैं जब कि वैशेषिकादि वस्तु के धर्मों (Attributes) के आधार पर दो वस्तुओं में भेद मानते हैं। इन दोनों पक्षों को ही यहाँ पर उठाया गया है और पूर्वपक्षी से पूछा जा रहा है कि आप किस पक्ष पर अपने तर्कों का गट्ठर फेंक रहे हैं?]

यदि आप वस्तु के स्वरूप को भेद माननेवाले लोगों (मध्वों) पर यह आरोप लगा रहे हैं, तो यह ठीक नहीं कर रहे हैं—जैसे चोर के अपराध से

माण्डव्य-ऋषि को पकड़ कर दण्ड दिया गया, वही स्थिति हो जायगी। (खेत खाय गदहा मार खाय जोलहा)। [महाभारत के आदि पर्व (अध्याय १०७–८) में यह कथा आयी है—माण्डव्य नाम के ऋषि को किसी राजा ने चोर समझ कर पकड़ लिया। राजा ने जब उन्हें दण्ड देकर शूली पर चढ़ाया उसी समय दूसरा असली चोर पकड़ा गया। तुरत उन ऋषि को शूली से उतारा गया और राजा ने उनसे क्षमा कर देने की प्रार्थना की। माण्डव्य ऋषि ने सोचा कि यह मेरे किसी न किसी कर्म का ही फल है, अतः उसका पता लगाने के लिए यमलोक में गये। यमराज ने बतलाया कि बचपन में किसी कीड़े को आपने बाँध लिया था उसी का यह फल भोगने को मिला है। माण्डव्य बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि अनजान में हुए अपराध का दण्ड इस प्रकार का नहीं मिलना चाहिए। उन्होंने यमराज को शाप दिया कि मर्त्यलोक में तुम शूद्रयोनि में जन्म लो। तदनुसार वे विचित्रवीर्य की दासी के गर्भ में व्यास के संयोग से आये और विदुर के रूप में उत्पन्न हुए। उसी दिन से यमराज ने यह नियम (Convention) चला दिया कि अज्ञान में किये गये अपराध को क्षमा कर दिया जाय। जहाँ एक व्यक्ति का अपराध हो और दूसरे को दण्ड मिले, वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।]

इसका कारण यह है कि आपके द्वारा आरोपित दोषों के क्षेत्र (Jurisdiction, Subject) में स्वरूप-भेदवादी लोग नहीं आते। [पूर्वपक्षियों का कहना था कि भेदवादी लोग धर्मी और प्रतियोगी के साथ ही प्रत्यक्ष का ज्ञान होना मानते हैं जो बिल्कुल असम्भव है। यह अपराध धर्म को भेद माननेवालों का है, स्वरूपभेदवादियों का नहीं, परन्तु यदि आप हमारे (स्वरूप-भेदवादियों के) ऊपर भी यही आरोप लगाते हैं तो ठीक नहीं। दूसरे के अपराध से हमें क्यों पकड़ रहे हैं ? आपके द्वारा प्रतिपादित दोष वस्तु के स्वरूप को भेद माननेवाले सिद्धान्त पर नहीं लग सकते। यदि वस्तु से भिन्न धर्मों के साथ दूसरी वस्तु के रूप में भेद हो तभी प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा भेद का ज्ञान होगा, केवल भेद का या धर्मि-प्रतियोगी के साथ भेद का। पूर्वपक्षियों ने फिर विकल्प किया था कि धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान के बाद भेद का ज्ञान होता है या एक ही साथ—तो ये विकल्प भी धर्मभेदवादी को ही लग सकते हैं। स्वरूप को भेद माननेवाले लोगों में कभी भी ये विकल्प नहीं लग सकते।]

[मध्वाचार्य ने शंकर के उत्तर में धर्मभेदवादियों को घसीटा है, सोचा कि इन्हें ही शंकर से भिड़ा दें, हम बिल्कुल बच जायेंगे। पर लेने के देने पड़े, धर्मभेदवादी अब मध्वों (स्वरूपभेदवादियों) पर ही बिगड़ खड़े हुए। अब दोनों भेदवादियों में ही शास्त्रार्थ चला। धर्मभेदवादी पूछते हैं—] यदि

वस्तु के स्वरूप को ही भेद मान लें तो घट की तरह, किसी प्रतियोगी (Contrary, Counterpart) की अपेक्षा नहीं रहेगी। [घट के ज्ञान के लिए किसी प्रतियोगी की आवश्यकता नहीं रहती है, सीधे घट का ज्ञान कर लेते हैं। यदि वस्तु के स्वरूप (Essence) को भेद मान लें तो यह भेद भी घट की तरह ही प्रतियोगि-निरपेक्ष हो जायगा।] किन्तु लोक में नियम से, सर्वत्र भेद-ज्ञान के लिए प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, [यदि धर्म (attributes) के आधार पर दो वस्तुओं में हम भेद नहीं मानेगें तो ऐसी संभावना नहीं रहेगी,—अतः स्वरूप को भेद मानना दोषपूर्ण है।]

उसका उत्तर [मध्वों की ओर से] होगा कि ऐसी बात नहीं है, पहले-पहल वस्तु के स्वरूप का ज्ञान दूसरी सभी वस्तुओं से पृथक् (विलक्षण Peculiar) करके प्राप्त किया जाता है तब प्रतियोगी की अपेक्षा रखते हुए विशेष प्रकार का (जैसे घट का घटत्व के रूप में) व्यवहार चलता है। [स्वरूप-भेदवादियों के मत से पहले, घट का घटत्व के रूप में, सबसे विलक्षण मानकर स्वरूप का ज्ञान होता है। इसी को भेदज्ञान कहते हैं,। जो वस्तु सबों से विलक्षण है उसके कम्बुग्रीवादि संस्थान-विशेषों से युक्त स्वरूप को भेद ही मानते हैं। तब प्रतियोगियों का अनुसंधान करके 'घट पट से भिन्न है' ऐसा व्यवहार करते हैं।]

तथा हि—परिमाणघटितं वस्तुस्वरूपं प्रथममवगम्यते। पश्चात्प्रतियोगिविशेषापेक्षया ह्रस्वं दीर्घमिति तदेव विशिष्य व्यवहारभाजनं भवति। तदुक्तं विष्णुतत्त्वनिर्णये—

'न च विशेषणविशेष्यतया भेदसिद्धिः। विशेषणविशेष्यभावश्च भेदापेक्षः। धर्मिप्रतियोग्यपेक्षया भेदसिद्धिः। भेदापेक्षं च धर्मिप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रयतया भेदस्यायुक्तिः। पदार्थस्वरूपत्वाद् भेदस्य'—इत्यादिना।

इसे यों समझें—परिमाण (Dimensions) से विशिष्ट वस्तु-स्वरूप का ज्ञान पहले हो जाता है। बाद में विभिन्न प्रकार के प्रतियोगियों की अपेक्षा रखकर उसी वस्तु को 'छोटा', 'बड़ा' इत्यादि विशेषणों से विभूषित करके उसका व्यवहार करते हैं। [पहले किसी घट का परिमाण जान लेते हैं, यही उसका स्वरूप है और भेद भी है। फिर दूसरे घट का ज्ञान करके उसकी अपेक्षा प्रकृत घट को छोटा या बड़ा मानते हैं। स्वरूप का व्यवहार सामान्य है, दूसरे प्रतियोगी की अपेक्षा रखने पर विशिष्ट व्यवहार होता है। व्यवहार से

अव्यवहित पूर्वक्षण में ही भेदज्ञान होने का नियम नहीं है। जब हम कहते हैं—'घटस्य स्वरूपम्' तो दोनों में भेद तो है ही। यहाँ तक कि 'घटः पटाद्भिन्नः' भी व्यधिकरण से व्यवहृत होता है और उसमें धर्म के भेद की सिद्धि नहीं होती। यह गौण व्यवहार है। यदि पदार्थ में स्वरूप-भेद नहीं होता तो उसके देखने पर सभी चीजों से उसकी विलक्षणता ज्ञात नहीं होती। पुनः, यदि पदार्थ में स्वरूप-भेद नहीं होता तो गवय को देखने पर भी गाय खोजने वालों की प्रवृत्ति होती और 'गो' शब्द का स्मरण होता क्योंकि लोग स्वरूप को भेद नहीं मानते, धर्म को ही भेद मानते—गो और गवय में धर्मों का अन्तर है अतः गवय मिल जाने पर भी गाय खोजते, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।]

इसीलिए विष्णुतत्त्वनिर्णय (लेखक—आनन्दतीर्थ, समय ११७० ई०) में कहा गया है—'विशेषण और विशेष्य रहने से भेद की सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि विशेषण और विशेष्य का संबन्ध स्वयं भेद की अपेक्षा रखता है। [जो स्वयं भेद से सिद्ध होता है, भेद को क्या सिद्ध करेगा ?] फल यह होगा कि धर्मी और प्रतियोगी की अपेक्षा से भेद की सिद्धि होती है, तथा भेद के आधार पर धर्मी और प्रतियोगी की सिद्धि होती है—इस प्रकार अन्योन्याश्रय-दोष होने से भेद ही युक्तियुक्त नहीं हो सकता। **पदार्थ के स्वरूप को ही भेद कहते हैं**। [उसके धर्म के आधार पर किये गये भेद को नहीं]'—इत्यादि।

विशेष—'यह एक प्रतियोगी से युक्त भेद को धारण करता है'—इसमें भेद विशेषण है, पट विशेष्य। 'पट में कुछ प्रतियोगी से युक्त भेद रहता है'—यहाँ भेद विशेष्य है, पट विशेषण। विशेषण और विशेष्य में भेद होना सुप्रसिद्ध है, जैसा कि 'राज्ञः (विशेषण) पुरुषः (विशेष्य)' में हम देखते हैं। यदि विशेषण-विशेष्य के रूप में भेद को सिद्ध किया जायगा तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध भेद के ऊपर आधारित है। इस भेद की सिद्धि धर्मित्व और प्रतियोगित्व की प्रतीति के ऊपर निर्भर करती है। दूसरी ओर, यह प्रतीति भेद की प्रतीति के बिना संभव ही नहीं है, अतः अन्योन्याश्रय-दोष होता है।

इस प्रकार 'भेदयुक्त पट' या 'पट में भेद' इनमें विशेषण-विशेष्य के रूप में जो भेद की प्रतीति होती है, वह भेद की सिद्धि करने में युक्त नहीं है। फिर भेद है किस रूप का ? उत्तर होगा कि पदार्थ का स्वरूप ही भेद है। विष्णुतत्त्व-निर्णय में यही कहा गया है।

अत एव गवार्थिनो गवयदर्शनान्न प्रवर्तन्ते, गो शब्दं च न

स्मरन्ति । न च नीरक्षीरादौ स्वरूपे गृह्यमाणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति भणनीयम् । समानाभिहारादिप्रतिबन्धकबलाद् भेद-भानव्यवहाराभावोपपत्तिः ।

इसीलिए गौ का अन्वेषण करने वाले लोग गवय (गौ के समान जन्तुविशेष) देखने के बाद आगे नहीं बढ़ते (मानो उन्होंने गाय पाली हो) तथा गौ शब्द का स्मरण भी नहीं करते। [चूँकि किसी वस्तु का सबों से विलक्षण स्वरूप जान लेना ही उस वस्तु के विशिष्ट व्यवहार का कारण है इसीलिए सबों से विलक्षण गौ के स्वरूप को लोग गवय में भी देख लेते हैं और ऐसा होने पर भी अज्ञान के कारण गौ का अन्वेषण करनेवालों की प्रवृत्ति या गौ का स्मरण करना—ये व्यवहार नहीं होते।] ऐसी भी शंका नहीं कर सकते कि [चूँकि भेद एक वास्तविक पदार्थ है और प्रत्यक्ष का विषय है इसलिए] जल से युक्त दूध आदि को आँखों से देख लेने पर, भेद का आभास भी दृष्टिगोचर होगा (अर्थात् वस्तु का अपना स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ेगा)। उक्त उदाहरण में आँख का संनिकर्ष तो रहता ही है। स्वरूप को ही भेद मानने पर भेद का भी ग्रहण होगा कि यह जल है, यह दूध है। इसमें भेद का प्रतिभास अवश्य होगा परन्तु भेदज्ञान ही नहीं रहता है।] कारण यह है कि भेद के आभास रूपी व्यवहार के अभाव की सिद्धि समानाभिहार (एक प्रकार के ही पदार्थों का समूह) आदि प्रतिबन्धक (प्रत्यक्षज्ञान को रोकनेवाले) कारणों के बल से होती है। [समानाभिहार एक प्रकार के पदार्थों का ही एक स्थान पर रहना। ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को समूह से पृथक् करना कठिन है—प्रत्यक्षज्ञान में भी यह प्रतिबन्ध डालता है। नीर-क्षीर एक प्रकार के ही पदार्थ हैं, इनको पृथक् करना कठिन है, इसलिए भेदाभास का व्यवहार यहाँ पर नहीं होता। ऐसी बात नहीं है कि भेद यहाँ है ही नहीं। वास्तव में दो पदार्थों के सादृश्य के कारण मिश्रित हो जाने से उनका पार्थक्य समझ में नहीं आता, भेद तो है ही। अतः नीर-क्षीर में स्वरूप का ग्रहण कर लेने पर भेद का प्रतिभास इसलिए नहीं होता कि नीर-क्षीर मिलकर एक हो गये हैं, समानाभिहार हो गया है। नहीं तो ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जिसमें स्वरूप का ज्ञान होने पर भेद का प्रतिभास नहीं हो।]

तदुक्तम्—

२. अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥
(सांख्यकारिका, ७) इति ।

अतिदूरात् = गिरिशिखरवर्तिपत्रतादौ, अतिसामीप्यात् = लोचनाञ्जनादौ, इन्द्रियघातात् = विद्युदादौ, मनोऽनवस्थानात् = कामाद्युपप्लुतमनस्कस्य स्फीतालोकवर्तिनि घटादौ, सौक्ष्म्यात् = परमाण्वादौ, व्यवधानात् = कुड्यान्तर्हिते, अभिभवात् = दिवा प्रदीपप्रभादौ, समानाभिहारात् = नीरक्षीरादौ यथावत् ग्रहणं नास्तीत्यर्थः।

ऐसा ही [सांख्यकारिका में] कहा गया है—'बहुत दूर होने के कारण, बहुत नजदीक होने के कारण, इन्द्रियों में दोष होने के कारण, मन के अव्यवस्थित (चंचल) होने के कारण, पदार्थ के बहुत सूक्ष्म होने के कारण, [इन्द्रिय और वस्तु के बीच में] किसी प्रकार का व्यवधान पड़ जाने के कारण, [किसी दूसरे तीव्र पदार्थ द्वारा वस्तु के] अभिभूत (अपेक्षाकृत शक्तिहीन) होने के कारण तथा समान रूप वाले पदार्थों में मिल जाने के कारण [प्रत्यक्षज्ञान को बाधा पहुँचती है।]'

बहुत दूर होने के कारण, जिस प्रकार पहाड़ों की चोटियों पर उगे हुए वृक्ष आदि को [देखना कठिन है]। बहुत नजदीक होने के कारण, जैसे अपनी आँखों में लगे हुए अंजन आदि को नहीं देख सकते। इन्द्रियों में दोष होने के कारण बिजली आदि को नहीं देख पाते। मन के अव्यवस्थित होने के कारण, जैसे कामादि वासनाओं से मन के क्षुब्ध हो जाने पर, खूब प्रकाश में अवस्थित घटादि को नहीं देख पाते। सूक्ष्मता के कारण परमाणु आदि को नहीं देख पाते। व्यवधान होने के कारण, दीवाल (कुड्य) के बीच में आने पर कोई चीज दिखलाई नहीं पड़ती। अभिभूत होने के कारण जैसे दिन में दीपक की प्रभा आदि को नहीं देख सकते। समान वस्तुओं में मिले होने के कारण, जैसे नीर-क्षीर में क्षीर का यथावत् प्रत्यक्ष नहीं होता है।

विशेष—सांख्यकारिका में यह कारिका प्रकृति की सिद्धि के क्रम में दी गई है। कहा गया है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी बहुत-सी वस्तुएँ सिद्ध नहीं होती क्योंकि उसके मार्ग में बहुत से बाधक कारण हैं—प्रकृति का प्रत्यक्ष सूक्ष्मता के कारण नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है कि प्रकृति का अभाव है। उसी प्रकार समानाभिहार के कारण नीर-क्षीर का भेद मालूम नहीं पड़ता। ऐसी बात नहीं है कि भेद उनमें है ही नहीं। 'स्वरूपग्रहणे भेदप्रतिभासोऽपि स्यादिति न मणनीयम्'। सामान्य दशा में ऐसा नहीं कहते कि नीर-क्षीर में स्वरूपग्रहण हो गया, भेद का प्रतिभास भी होगा। नहीं, भेद ग्रहण नहीं होता। पर

यह तो हमारे सिद्धान्त के प्रतिकूल है कि स्वरूप से भेदज्ञान नहीं हो। नहीं, प्रतिकूलता तनिक भी नहीं है वास्तव में भेद-ज्ञान है, पर नीर-क्षीर के मिश्रित होने के कारण नहीं प्रतीत होता। इसलिए यहाँ भेद-ज्ञान का ग्रहण आपाततः नहीं होता।

कभी-कभी एक ही वस्तु के कई स्वरूप होते हैं। मनुष्य को दूर से देखने पर कोई पदार्थ जान पड़ता है, उसके बाद ऊँचा पदार्थ, फिर प्राणी, फिर मनुष्य, फिर युवक आदि—इस प्रकार तारतम्य से नाना प्रकार के स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार का तारतम्य धर्मभेदवादी (वैशेषिक) लोग भी स्वीकार करते हैं। स्वरूपभेदवादी के मत से यदि स्वरूप अनेक प्रकार के हैं तो भेद की भी अनेकरूपता स्वीकार करनी पड़ेगी। इसलिए जल-मिश्रित दूध में घड़े से भेद दिखाया जा सकता है, नीर से नहीं। क्योंकि उस प्रकार के स्वरूप का ज्ञान करने में हमारी आँखें असमर्थ हैं। अतएव नीर-क्षीर में विलक्षण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, उस प्रकार का भेदज्ञान भी नहीं होता, 'नीर से क्षीर भिन्न है' ऐसा ज्ञान भी नहीं होता—यही व्यवहार है।

(४. धर्मभेदवादी का समर्थन—भेद की सिद्धि)

अस्तु वा धर्मभेदवादस्तथापि न कश्चिद्दोषः। धर्मिप्रतियोगिग्रहणे सति पश्चात्तद्घटितभेदग्रहणोपपत्तेः। न च परस्पराश्रयप्रसङ्गः। परानपेक्ष्य प्रभेदशालिनो वस्तुनो ग्रहणे सति धर्मभेदभानसंभवात्। न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वेनानवस्था दुरवस्था स्यादित्यास्थेयम्। भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्। भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात्।

[मध्वाचार्य देखते हैं कि अपने ही पक्षवाले – धर्मभेदवादी को चिढ़ाने से काम नहीं चलेगा। वह भी तो भेद को स्वीकार करता है। यह दूसरी बात है कि वह स्वरूप का भेद न मानकर धर्मों का भेद मानता है। अपने मत के प्रतिपादन के पश्चात् उस पर भी दो-चार वाक्य लिख देना कोई बुरा नहीं है। इससे भेदवाद की जड़ और भी जम जायगी। इसलिए वे कहते हैं—] अथवा वैशेषिकों के धर्मभेदवाद को ही स्वीकार करें, उसमें भी कोई दोष नहीं है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर, उसके बाद उन पर ही आधारित (घटित) भेद का ग्रहण हो जाता है। [यह अभिप्राय है कि पहले घट धर्मी,

का ज्ञान घट-सामान्य के रूप में तथा पट-प्रतियोगी का ज्ञान पट-सामान्य के रूप में हो जाता है, तब घट और पट में क्रमश: धर्मित्व और प्रतियोगित्व की स्थापना के साथ ही साथ सामूहिक-ज्ञान (Knowledge of a group) की तरह एक ही क्रिया से भेद का ग्रहण भी हो जायगा। इसी को धर्मि-प्रतियोगि-घटित भेद कहते हैं। यहाँ पर कारण-बुद्धि और कार्य-बुद्धि एक साथ नहीं होती। इसलिए पूर्वोक्त दोष होने की संभावना है, किन्तु वह बात नहीं है। घट और पट का जो ग्रहण धर्मी और प्रतियोगी के रूप में हो रहा है वह भेद के ज्ञान का कारण नहीं है। बल्कि घट और पट का जो ज्ञान घटत्व और पटत्व के रूप में किया गया था वही भेद-ज्ञान का कारण है। घट को भेद का धर्मी मानना और पट को भेद का प्रतियोगी मानना तो वस्तु की सत्ता होने पर ही भेदज्ञान का कारण होता है। इसलिए उक्त दोष नहीं लगता।]

अन्योन्याश्रय-दोष की भी संभावना यहाँ नहीं है क्योंकि दूसरों (भिन्न वस्तुओं) की अपेक्षा न रखते हुए ही, भेद-युक्त वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए धर्म-भेद (Difference in attributes) का ग्रहण होना संभव है। [अन्योन्याश्रय-दोष का आरोपण इसलिए होता है कि घट का घटत्व-रूप में और पट का पटत्व-रूप में ज्ञान होना भेदज्ञान के ऊपर निर्भर करता है, दूसरी ओर भेदज्ञान इस प्रकार के ज्ञान पर निर्भर करता है। परन्तु यह दोष नहीं होता—स्वरूपभेदवाद में वस्तु सबसे विलक्षण स्वरूप की मानी जाती है घट-पट के ज्ञान में इनसे विलक्षण स्वरूपों से ही ज्ञान हो जायगा, इसमें दूसरों की अपेक्षा ही नहीं है—ज्ञान तो स्वरूप से हो रहा है अत: घट का घटत्व रूप में और पट का पटत्व-रूप में ज्ञान होने पर भेदज्ञान की सापेक्षता (भेद-ज्ञान पर आधारित होना) नहीं रहेगी। इसके बाद धर्मी-प्रतियोगी बना कर दोनों पदार्थों के भेद की कल्पना होगी।]

ऐसा भी यहाँ कहना ठीक नहीं है कि धर्मभेदवाद को स्वीकार कर लेने पर अनवस्था-दोष इसलिए उत्पन्न होगा कि प्रत्येक भेद को किसी दूसरे भेद के द्वारा पृथक् करने की आवश्यकता होगी। [घट में भेद है जिसका प्रतियोगी है पट, इस प्रथम भेद के द्वारा घट को भेद्य (= प्रथमभेद से घट भिन्न है—ऐसे व्यवहार के योग्य) समझते हैं। अब प्रथम-भेद का प्रतियोगी घट हो गया, इस प्रथम भेद में द्वितीय भेद है—जिसके द्वारा प्रथम भेद को ही भेद्य समझते हैं। द्वितीय भेद का प्रतियोगी प्रथम भेद है, द्वितीय भेद में एक तृतीय भेद की कल्पना करनी पड़ेगी जिसके द्वारा द्वितीय भेद को भेद्य समझेंगे। इस प्रकार अन्त न होने वाली एक परम्परा चलती रहेगी।] यह अनवस्था इसलिए नहीं होगी कि दूसरे भेद

को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता (मूलाभावात्)। भेद और भेदी दोनों भिन्न हैं ऐसा व्यवहार देखने में नहीं आता। [आशय यह है कि जिस प्रकार 'घट और पट भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार पट को प्रतियोगी और घट को धर्मी मानकर चलता है, उसी प्रकार यदि 'भेद (द्वितीयभेद) तथा भेदी (प्रथम भेद) भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार लोक में दिखलाई पड़ता तभी द्वितीय भेद की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु ऐसा होता नहीं इसलिए अनवस्था नहीं है। भेद एक ही होता है वह चाहे दूसरी बार हो या तीसरी बार। 'घट पट से भिन्न है' इसमें एक भेद है, अब 'वह भेद स्वयं घट से भिन्न है' यहाँ प्राप्त भेद भी कोई अलग नहीं—सर्वत्र एक प्रकार के भेद की ही प्राप्ति होती है।]

न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्। दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थाने दोषाभावात्। सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगम इव। दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव। न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः। तस्मान्मूलक्षयाभावादनवस्था न दोषाय।

ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिए कि एक भेद के बल से दूसरे भेद का अनुमान होता चला जायगा (और अनवस्था घेर ही लेगी)। [आशय यह है कि प्रथम भेद का प्रतियोगी घट है, फिर द्वितीय भेद का अनुमान, द्वितीय भेद से तृतीय का, इस प्रकार अनुमान से अनवस्था हो जायगी। परन्तु मध्व इसका खण्डन करते हैं।] यह अनवस्था दृष्टान्त के रूप में दिये गये प्रथम-भेद का बिना नाश किये ही यदि उत्पन्न होती है तब तो अनवस्था मानने में कोई दोष ही नहीं है। [भेद को तो आप इस प्रकार स्वीकार करते ही हैं। आप भेद स्वीकार कर लें फिर हम पर लाखों दोष क्यों न आरोपित करें! हमारा काम समाप्त!] यह दोषारोपण ऐसा ही है, जैसे कोई थोड़ी-सी तिल की खल्ली (Oil-cake) माँगने जाय और उसे एकाध पसेरी तेल ही देना पड़ जाय [थोड़ी सी वस्तु माँगे और अधिक वस्तु स्वयं देनी पड़े। भेदवादियों पर अनवस्था लगाने जाय और अनुमान द्वारा दोषारोपण करने में दृष्टान्त के रूप में स्वयं भेद (खण्डनीय वस्तु) को स्वीकार करना पड़े।] दूसरी ओर, यदि भेद को दृष्टान्त के रूप में स्वीकार ही न करें तो अनुमान ही नहीं होगा [और फलतः अनवस्था-दोष नहीं लगेगा]। कन्या का विवाह वर के विनाश के लिए नहीं होता [अनुमान का आधार लेकर चलनेवाली अनवस्था सीधे

अनुमान का ही विनाश कर देती है।] इसलिए हमारे मूल का क्षय न करने के कारण अनवस्था कोई भी दोष नहीं लाती।

विशेष—प्रस्तुत संदर्भ कठिन के साथ-साथ मनोरंजक भी कम नहीं। जब अनुमान से पूर्वपक्षी लोग एक भेद से दूसरे भेद की सिद्धि करके अनवस्था का आरोपण करने लगते हैं तब इस प्रकार का परामर्श होता है—

द्वितीय-भेद किसी दूसरे भेद के द्वारा भेद्य है (प्रतिज्ञा + साध्य)।
क्योंकि वह भी एक प्रकार का भेद है (हेतु)।

जिस प्रकार प्रथम-भेद होता है (दृष्टान्त)। जहाँ अनवस्था का आरोपण होता है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार विश्राम (End) खोजना ही पड़ता है। कहीं-कहीं यह विश्राम **सिद्ध के समान** ग्रहण करते हैं जैसे—घटत्व, पटत्व आदि सामान्यों (Generality) में यदि सामान्यत्व की जाति मानें तो इसका भी फिर सामान्यत्व मानना पड़ेगा, उसका भी सामान्यत्व होगा—यों अनवस्था होगी। इसके निराकरण के लिए सिद्ध है कि सामान्यों की सामान्यत्व-जाति नहीं मानी जाती। मूल में ही ऐसा नहीं होता कि घटत्व-पटत्व में जाति न मानें क्योंकि इनमें तो जाति लोकसिद्ध है। कहीं-कहीं यह विश्राम **स्वभावतः** मानना पड़ता है जैसे—नैयायिकों के मत से 'यह घट है' इसमें घट का ग्रहण व्यवसायात्मक ज्ञान से होता है, फिर इस व्यवसाय का ज्ञान भी अनुव्यवसाय ('मैं घट जानता हूँ' इस प्रकार के) से होता है, इसके लिए भी दूसरे अनुव्यवसाय की आवश्यकता होती है। बुद्धि की योग्यता देखकर अपने आप दो-चार कक्षाओं (कोटियों Stages) के बाद विश्राम हो जाता है। अन्तिम व्यवसाय अज्ञात ही रहता है। बस, अनवस्था वहीं समाप्त हो गई (अभ्यंकर)।

प्रस्तुत प्रसंग में अनवस्था का रूप यह है कि एक भेद से दूसरे भेद का अनुमान करते हैं, दूसरे भेद से तीसरे भेद का, इत्यादि। अनुमान का रूप ऊपर देख ही चुके हैं। इस अनवस्था का निराकरण भी दो तरह से हो सकता है—या तो अनुमान को कहीं विश्राम कराना है या सिद्धवाक्य मानें कि संसार में भेद है ही नहीं।

(१) बुद्धि की सामर्थ्य से कहीं न कहीं रुक ही जाना पड़ेगा। दृष्टान्त के रूप में तो पूर्वपक्षी प्रथम भेद को मानते हैं न ? उसका तो विघात (विध्वंस) नहीं करते ? तब तो बड़ा आनन्द है ! कम-से-कम दृष्टान्त के रूप में भी मानने का अर्थ है कि पूर्वपक्षी कुछ भेदों को तो स्वीकार करते हैं। इससे हमारे पक्ष का ही समर्थन हुआ। हम पर दोषारोपण करने करने क्या आये कि

स्वयं हमारे पक्ष को ही स्वीकार करना पड़ा। तिल की खल्ली माँगने आये और ढेर-सा तेल देना पड़ा।

(२) यदि पहले से ही दुराग्रह हो कि भेद है ही नहीं तब तो और भी अच्छा ! भेद अस्वीकार करने पर दृष्टान्त के रूप में दिया गया प्रथम भेद भी नहीं सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में अनुमान के मूल पर ही कुठाराघात हो जायगा। अनुमान के आधार पर टिकी हुई अनवस्था का तो क्या पूछना ? जिस अनुमान के आधार पर अनवस्था चलती है उसी अनुमान का वह खण्डन कर देती है। कन्या का विवाह हुआ पर वर ही मर गये।

इसलिए अनवस्था मानने पर भी हमारे भेदवाद की कुछ भी हानि नहीं हुई। ऐसी लाखों अनवस्थायें रहें तो भी हम गजनिमीलिकान्याय से अपना काम करते रहेंगे।

(५. अनुमान-प्रमाण से भेद की सिद्धि)

अनुमानेनापि भेदोऽवसीयते। परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः। तं प्रति सेव्यत्वात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद् भिन्नः। यथा भृत्याद्राजा।

न हि सुखं मे स्याद् दुःखं मे न मनागपि—इति पुरुषार्थमर्थयमानाः पुरुषाः स्वपतिपदं कामयमानाः सत्कारभाजो भवेयुः। प्रत्युत सर्वानर्थभाजनं भवन्ति। यः स्वस्यात्मनो हीनत्वं परस्य गुणोत्कर्षं च कथयति स स्तुत्यः प्रीतः स्तावकस्य तस्याभीष्टं प्रयच्छति। तदाह—

३. घातयन्ति हि राजानो राजाहमिति वादिनः।
ददत्यखिलमिष्टं च स्वगुणोत्कर्षवादिनाम्॥ इति।

अनुमान-प्रमाण से भी भेद की सिद्धि होती है। [अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार की है]—परमेश्वर जीव से भिन्न है (प्रतिज्ञा + साध्य), क्योंकि उसके लिए परमेश्वर सेव्य है (हेतु), जो जिसके लिए सेव्य है वह उससे भिन्न है जैसे भृत्य से राजा [भिन्न है] (दृष्टान्त)।

'मुझे केवल सुख ही मिले, दुःख थोड़ा भी नहीं हो' इस प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करते हुए (मुमुक्षु) पुरुष यदि संसार (स्व) के स्वामी परमेश्वर का पद ही प्राप्त करना चाहें तो उनका सत्कार नहीं होता (ईश्वर उन पर कृपा

प्रदर्शित नहीं करते); यही नहीं, वे सब प्रकार के अनिष्ट प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर यदि कोई अपने आपकी हीनता तथा दूसरों के गुणों के माहात्म्य का वर्णन करता है उस स्तुति करने वाले भक्त को, स्तवनीय परमात्मा प्रसन्न होकर सारी कामनायें पूरी करता है। [यदि भक्त परमेश्वर की स्तुति करता है तो वे प्रसन्न होते हैं, यदि स्वयं परमेश्वर बनना चाहे (जैसे अद्वैत पक्ष में होता है) तो वे रुष्ट होकर सारे अभीष्ट कामों को नष्ट कर देते हैं। इसलिए जीव और ईश्वर में अभेद मानना ईश्वर की कोपाग्नि में घी डालना है।]

ऐसा ही कहा है—'राजा लोग उन सबों का विनाश कर डालते हैं जो अपने को राजा घोषित करते हैं। उधर अपने गुणों के उत्कर्ष का वर्णन करनेवाले लोगों की सारी कामनायें वे पूर्ण करते हैं।' [इस लौकिक उदाहरण से अनुमान होता है कि स्वामी से अभेद स्थापित करनेवाले पर स्वामी अप्रसन्न होते हैं तथा अपने से भेद रखने पर प्रसन्न होते हैं।]

एवं च परमेश्वराभेदतृष्णया विष्णोर्गुणोत्कर्षस्य मृगतृष्णिकासमत्वाभिधानं विपुलकदलीफललिप्सया जिह्वाच्छेदनमनुहरति। एतादृशविष्णुविद्वेषणादन्धतमसप्रवेशप्रसङ्गात्। तदेतत्प्रतिपादितं मध्यमन्दिरेण महाभारततात्पर्यनिर्णये—

४. अनादिद्वेषिणो दैत्या विष्णौ द्वेषो विवर्धितः।
तमस्यन्धे पातयति दैत्यानन्ते विनिश्चयात्॥

(म० भा० ता० १।११) इति।

इस प्रकार परमेश्वर से अभिन्न (एक) होने के लोभ से [अद्वैतवेदान्ती लोग ईश्वर को निर्गुण मानकर] विष्णु भगवान् के गुणों के उत्कर्ष को मृगतृष्णा (Mirage) के समान भ्रान्त (मायामय) कहते हैं। यह कहना वैसा ही है जैसे कोई केले के फलों की इच्छा से अपनी जीभ ही कटवा ले। [इनमें कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। बल्कि जीभ कट जाने पर केले के फलों का कोई उपयोग ही नहीं है। उसी तरह ईश्वर को निर्गुण मानने पर उनसे मिलने का कोई उपयोग ही नहीं।] ऐसे विष्णु भगवान् को अप्रसन्न करने पर [उनसे एकाकार होने की धृष्टता करने से] अन्धतमस (नरक) में ही प्रवेश करना पड़ेगा। इसका प्रतिपादन मध्यमन्दिर (पूर्णप्रज्ञ) ने अपने ग्रन्थ महाभारत-तात्पर्य-निर्णय में किया है—'दैत्यगण विष्णु से अनादि काल से (From time immemorial) द्वेष रखते आ रहे हैं, विष्णु में भी उनके प्रति अत्यधिक

द्वेष बढ़ता रहा है। इसलिए वे दैत्यों को अन्त में निश्चित रूप से निबिड़ अन्धकार (नरक) में गिराते हैं।' (म० भा० ता० १।१११)

विशेष—मध्यमन्दिर मध्यगेह के पुत्र थे। इन्हीं का नाम आनन्दतीर्थ था तथा पूर्णप्रज्ञाचार्य भी ये ही थे। इनका समय ११७० ई० है। इन्होंने द्वैतवाद के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए महाभारत-तात्पर्य निर्णय नामक ग्रन्थ लिखा था जिसकी तीन टीकायें हुईं—जनार्दन भट्ट कृत (१३२० ई०), वादिराज कृत तथा विट्ठलसूनु कृत। महाभारततात्पर्यनिर्णय में ही ग्रन्थकार के विषय में लिखा है—

आनन्दतीर्थाख्यमुनिः सुपूर्णप्रज्ञाभिधो ग्रन्थमिमं चकार।
नारायणेनाभिहितो बदर्यां तस्यैव शिष्यो जगदेकभर्तुः॥ (३२।१७०)

(६. ईश्वर की सेवा के नियम)

सा च सेवा अङ्कन-नामकरण-भजनभेदात् त्रिविधा। तत्राङ्कनं नारायणायुधादीनां तद्रूपस्मरणार्थमपेक्षितार्थसिद्ध्यर्थं च। तथा च शाकल्यसंहितापरिशिष्टम्—

५. चक्रं बिभर्त्ति पुरुषोऽभितप्तं
बलं देवानाममृतस्य विष्णोः।
स याति नाकं दुरितावधूय
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः॥

६. देवासो येन विधृतेन बाहुना
सुदर्शनेन प्रयातास्तमायन्।
येनाङ्किता मनवो लोकसृष्टिं
वितन्वन्ति ब्राह्मणास्तद्वहन्ति॥

उस सेवा के तीन भेद हैं—अंकन (Stigmatisation), नामकरण (Imposition of names) तथा भजन (worship)।

उनमें अंकन वह है जिसमें भगवान् नारायण के रूप के स्मरण के लिये या अपेक्षित लक्ष्य (मुक्ति) की सिद्धि के लिये उनके आयुध (अस्त्र-शस्त्र) आदि का चिह्न [शरीर के किसी भाग पर अंकित कर दिया जाय।] शाकल्य-संहिता (ऋग्वेद का संहिता-विशेष) के परिशिष्ट में ऐसी बात है—'जो पुरुष देवताओं के बलस्वरूप अमर विष्णु के अभितप्त (Burning) चक्र को धारण

करता है वह दुरितों (पापों) को नष्ट करके उस स्वर्ग में प्रवेश करता है—जहाँ राग से हीन संन्यासी लोग जा सकते हैं ॥ ५ ॥ बाहु में जिस सुदर्शन चक्र को धारण करके देवता लोग चलते-चलते उस स्वर्ग लोक में पहुँचे; जिस चक्र से अंकित होकर मनुओं ने संसार की सृष्टि की थी, उसी चक्र को ब्राह्मण लोग धारण करते हैं ॥ ६ ॥'

विशेष—इन दोनों श्लोकों तथा अगले श्लोक में वैदिक छन्द का प्रयोग है, ऋग्वेद की एक संहिता शाकल्यसंहिता के परिशिष्ट के नाम से इनका उद्धरण दिया गया है। दुरिता = दुरितम् द्वितीया एकवचन में 'डा' आदेश हो गया है। ब्रह्माण्डपुराण में अंकन के विषय में कहा गया है—

कृत्वा धातुमयीं मुद्रां तापयित्वा स्वकां तनुम् ।
चक्रादिचिह्नितां भूप धारयेद्वैष्णवो नरः ॥

नारदपुराण में चक्रधारण के विषय में यह लिखा है—

द्वादशारं तु षट्कोणं वलयत्रयसंयुतम् ।
हरेः सुदर्शनं तप्तं धारयेत्तद्विचक्षणः ॥

यह सुदर्शन देवताओं को बल देता है; उसी से देवताओं ने स्वर्ग पर विजय पायी, मनुओं ने संसार की सृष्टि की।

७. तद्विष्णोः परमं पदं येन गच्छन्ति लाञ्छिताः ।
उरुक्रमस्य चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवामः ॥ इति ।

'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रितास इद्वहन्तस्तत्समासत' (तै० आ० १।११) इति तैत्तिरीयकोपनिषच्च । स्थानविशेषश्चाग्नेयपुराणे प्रदर्शितः —

८. दक्षिणे तु करे विप्रो बिभृयाच्च सुदर्शनम् ।
सव्येन शङ्खं बिभृयादिति ब्रह्मविदो विदुः ॥

'विष्णु का वह पद सबसे अच्छा है (वैकुण्ठ) जिससे होकर अंकित पुरुष पार करते हैं। बड़े पग (Step) वाले विष्णु के चिह्न से अंकित होकर हमलोग ससार में ऐश्वर्ययुक्त बनें ॥ ७ ॥' तैत्तिरीयक उपनिषद् में भी कहा है—'जिसका शरीर तप्त (अंकित) नहीं है, वह पुरुष कच्चा (आमः) है, उसे (स्वर्ग को) नहीं पाता। उसको धारण करने वाले भक्त (श्रितासः) गण ही उसे प्राप्त करते हैं।' (तै० आ० १।११)। [अंकन करने के लिये] विशेष स्थानों का उल्लेख अग्नि-पुराण में किया गया है—'ब्राह्मण दाहिने हाथ में सुदर्शन चक्र

धारण करे, शंख की छाप बायें हाथ में धारण करे, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग मानते हैं।'

अन्यत्र चक्रधारणे मन्त्रविशेषश्च दर्शितः —

९. सुदर्शन महाज्वाल कोटिसूर्यसमप्रभ !।
अज्ञानान्धस्य मे नित्यं विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ॥

१०. त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
नमितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥ इति ।

दूसरी जगहों में चक्रधारण के विशेष मन्त्र भी दिये गये हैं—'हे सुदर्शन, तुम बहुत ज्वालाओं से युक्त हो, करोड़ों सूर्य के बराबर तुम्हारी ज्योति है, मैं अज्ञान के कारण अंधा हूँ, मुझे विष्णु का मार्ग प्रतिदिन दिखलाओ ॥ ९ ॥' 'तुम पहले समुद्र में उत्पन्न हुए थे, विष्णु ने तुम्हें अपने हाथ में धारण किया था, सभी देवताओं ने तुम्हें प्रणाम किया है, हे पांचजन्य शंख, तुम्हें प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥'

(६ क. नामकरण और भजन)

नामकरणं पुत्रादीनां केशवादिनाम्ना व्यवहारः, सर्वदा तन्नामानुस्मरणार्थम् । भजनं दशविधं—वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायः, कायेन दानं परित्राणं परिरक्षणं, मनसा दया स्पृहा श्रद्धा चेति । अत्रैकैकं निष्पाद्य नारायणे समर्पणं भजनम् । तदुक्तम्—

अङ्कनं नामकरणं भजनं दशधा च तत् । इति ।

एवं ज्ञेयत्वादिनापि भेदोऽनुसन्धातव्यः ।

नामकरण का अभिप्राय है अपने पुत्र आदि का केशव आदि (वैष्णव) नाम रख कर पुकारना जिससे भगवान् के नामों का अनुस्मरण होता रहे। भजन दस प्रकार का है—वाणी के द्वारा सत्य, हित, प्रिय वचन तथा स्वाध्याय; शरीर से दान, बचाव और रक्षा करना; मन से दया, स्पृहा (इच्छा) और श्रद्धा । इनमें एक-एक की प्राप्ति कर लेने पर उसे नारायण को समर्पण कर देना ही भजन है । ऐसा ही कहा है—अंकन, नामकरण तथा दस प्रकार के भजन—यही सेवा है ।

[इस प्रकार सेव्य-हेतु से भेद का अनुमान किया गया]। वैसे ही ज्ञेयत्व आदि हेतुओं के द्वारा भी भेद का अनुमान हो सकता है।

विशेष—ज्ञेयत्व के द्वारा भेद का अनुमान इस प्रकार होगा—
परमात्मा जीव से भिन्न है क्योंकि जीव के द्वारा वह ज्ञेय है,
जो जिसके द्वारा ज्ञेय होता है वह उससे भिन्न है जैसे जीव से घट।

(७. श्रुति-प्रमाण से भेद की सिद्धि)

तथा श्रुत्यापि भेदोऽवगन्तव्यः। 'सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति, रातिं देवस्य गृणतो मघोनः।' 'सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो, यज्ञेषु विप्रराज्ये।' 'सत्य आत्मा, सत्यो जीवः, सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा, मैवारुवण्यो मैवारुवण्यो मैवारुवण्य' इति मोक्षानन्दभेदप्रतिपादकश्रुतिभ्यः।

उसी तरह श्रुति-प्रमाण (Revelation) से भी भेद की सत्ता जानी जा सकती है। 'यह सच है कि स्तुति करने वाले धनयुक्त (अथवा इन्द्र) देव के इस मित्र (राति = दान) से सभी लोग प्रसन्न होते हैं। [इन्द्र के मित्र विष्णु से सभी प्रसन्न होते हैं अर्थात् विष्णु और लोक में पार्थक्य है।]' 'उन (विष्णु भगवान्) की वह महिमा सच है, मैं ब्राह्मणों के राज्य-रूपी यज्ञों में सुख (शवः) के उद्देश्य से उनकी प्रार्थना करता हूँ।' [√गृ = प्रार्थना करना (क्र्यादि, परस्मै०)।] 'आत्मा (परमात्मा) सत्य है, जीव सत्य है, उन दोनों का भेद भी सत्य है, भेद सत्य है, भेद सत्य है, [परमात्मा] दुष्टों के द्वारा (आरुभिः) सेवनीय (वन्यः) नहीं है (मा एव), दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है, दुष्टों के द्वारा सेवनीय नहीं है।' इन श्रुतियों में मोक्ष और आनन्द में भेद का प्रतिपादन किया गया है। [आरु—अर = दोष, अर + उण् (मतुप् के अर्थ में) = आरु = दोषयुक्त।]

११. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥(गी० १४।२)

'जगद्व्यापारवर्जम्'; 'प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च' (ब्र० सू० ४।४।१७-१८) इत्यादिभ्यश्च। न च 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) इति श्रुतिबलाज्जीवस्य पारमैश्वर्यं शक्यशङ्कम्।

'संपूज्य ब्राह्मणं भक्त्या शूद्रोऽपि ब्राह्मणो भवेत्'—इतिवद् बृंहितो भवतीत्यर्थपरत्वात् ।

[गीता में कृष्ण कहते हैं—] 'इस ज्ञान (परमात्मा के ज्ञान) को पाकर मनुष्य मेरे समान हो जाते हैं, वे सृष्टि होने पर भी उत्पन्न नहीं होते और प्रलय (विनाशकाल) में भी दुःखों का अनुभव नहीं करते' (गीता० १४।२) [इसमें मोक्ष के बाद भी भेद ही रहता है क्योंकि ज्ञान पाकर मनुष्य ईश्वर के समान हो जाता है । ईश्वर ही नहीं बन जाता ।] 'संसार के व्यापारों (नियमन, सृष्टि आदि) को छोड़कर [मुक्त पुरुष सभी कार्य कर सकता है] क्योंकि जीव का प्रकरण (प्रसंग) इतना ही है, तथा जीवों को संसार के व्यापार से दूर रखा गया है (उनमें वह सामर्थ्य नहीं है, ब्र० सू० ४।४।१७-१८)—इस श्रुतिवाक्यों में भेद का ही वर्णन है । 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' (मु० ३।२।९) इस श्रुति के बल से ऐसी शंका न करें कि जीव ही परमेश्वर है क्योंकि इसमें केवल प्रशंसा की गई है, (तथ्य का निरूपण नहीं) जैसा कि इस श्लोकार्ध में अर्थ है—'भक्ति से ब्राह्मण की पूजा करने पर शूद्र भी ब्राह्मण ही हो जाता है ।' [इस एकावस्था-प्रतिपादक श्रुति को अतिशयोक्तिपूर्ण मान लें ।]

(८. माया का अर्थ—द्वैत का प्रतिपादन)

ननु—

१२. प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥

(माण्डूक्यकारिका १।१७)

इति वचनाद् द्वैतस्य कल्पितत्वमवगम्यत इति चेत्सत्यम् । भावमनभिसंधायाभिधानात् । तथा हि—यद्ययमुत्पद्येत तर्हि निवर्तेत न संशयः । तस्मादनादिरेवायं प्रकृष्टः पञ्चविधो भेद-प्रपञ्चः । न चायमविद्यमानः । मायामात्रत्वात् । मायेति भगवदिच्छोच्यते ।

[माण्डूक्य कारिका (अद्वैतग्रन्थ) में कहा है कि] यदि प्रपञ्च की सत्ता वास्तव में है तो वह नष्ट भी होगा, इसमें सन्देह नहीं । यह द्वैत (Difference) केवल माया है, वास्तव में तो अद्वैत ही सत्य है (मा० का० १।१७)—इस वाक्य से कोई शंका कर सकता है कि द्वैत (भेदवाद) काल्पनिक है । हाँ, ठीक

है, लेकिन बिना भाव को सोचे-समझे कहने का यह फल है [कि शंका दिखलाई पड़ती है ।] इसे समझने की चेष्टा करें—यदि यह (प्रपञ्च) उत्पन्न होता तभी इसका विनाश होता इसमें सन्देह नहीं। इससे पता लगता है कि यह प्रकृष्ट भेद प्रपञ्च (भेदात्मक संसार) पाँच प्रकार का है। इसकी सत्ता नहीं है, ऐसी बात नहीं, क्योंकि यह मायामात्र है। माया का अर्थ है भगवान् की इच्छा।

विशेष—माण्डूक्य कारिका की प्रथम पंक्ति से उस स्थान में यह अनुमान लगाया गया है कि प्रपञ्च माया है, काल्पनिक है, जब कि मध्व इससे दूसरा ही निष्कर्ष निकालते हैं कि यह प्रपञ्च अनादि है। यह माया अर्थात् ईश्वर की इच्छा ही है। महाभारततात्पर्यनिर्णय में कहा गया है—

पञ्चभेदांश्च विज्ञाय विष्णोः स्वाभेदमेव च।
निर्दोषत्वं गुणोद्रेकं ज्ञात्वा मुक्तिर्न चान्यथा ॥ (१।८२)।

अब पौराणिक वाक्यों का उद्धरण देकर माया की व्याख्या की जायगी।

१३. महामायेत्यविद्येति नियतिर्मोहिनीति च।
प्रकृतिर्वासनेत्येव तवेच्छानन्तकथ्यते ॥
१४. प्रकृतिः प्रकृष्टकरणाद्वासना वासयेद्यतः।
अ इत्युक्तो हरिस्तस्य मायाविद्येति संज्ञिता ॥
१५. मायेत्युक्ता प्रकृष्टत्वात्प्रकृष्टे हि मयाभिधा।
विष्णोः प्रज्ञप्तिरेवैका शब्दैरेतैरुदीर्यते ॥
१६. प्रज्ञप्तिरूपो हि हरिः सा च स्वानन्दलक्षणा।
इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यबलात्।

हे अनन्त ईश्वर ! आपकी इच्छा को ही महामाया, अविद्या, नियति, मोहिनी, प्रकृति और वासना भी कहते हैं ॥ १३ ॥ अधिक उत्पन्न होने के कारण इसे प्रकृति कहते हैं, विचारों को पैदा करने के कारण इसे वासना कहते हैं। 'अ' का अर्थ हरि है, उनकी माया (इच्छा) को अविद्या नाम देते हैं ॥ १४ ॥ प्रकृष्ट (बड़ा) होने के कारण इसे माया कहते हैं क्योंकि 'मय' का अर्थ 'बड़ा' होता है। इन शब्दों से एकमात्र विष्णु की प्रज्ञा (Excellent Knowledge) का ही बोध होता है ॥ १५ ॥ हरि विशिष्ट ज्ञान के स्वरूप हैं, उस विशिष्ट ज्ञान (प्रज्ञा) का लक्षण है निरन्तर (अपने आप) आनन्द-प्राप्ति ॥ १६ ॥—इन वचनों के प्रमाण से [माया का अर्थ भगवान् की इच्छा सूचित होता है]।

सैव प्रज्ञा मानत्राणकर्त्री च यस्य तन्मायामात्रम्। ततश्च परमेश्वरेण ज्ञानत्वाद्रक्षितत्वाच्च न द्वैतं भ्रान्तिकल्पितम्। न हीश्वरे सर्वस्य भ्रान्तिः संभवति। विशेषादर्शननिबन्धनत्वाद् भ्रान्तेः।

तर्हि तद्व्यपदेशः कथमित्यत्रोत्तरमद्वैतं परमार्थत इति। परमार्थत इति परमार्थापेक्षया। तेन सर्वस्मादुत्तमस्य विष्णुतत्त्वस्य समभ्यधिकशून्यत्वमुक्तं भवति।

[ऊपर प्रपंच को मायामात्र कहा गया है। अब मायामात्र शब्द का अर्थ करते हैं—] ईश्वर की उपर्युक्त प्रज्ञा (इच्छा, माया, बुद्धि) जिसको मापे (Measure out) और जिसकी रक्षा करे वही है मायामात्र (माया + √मा + √त्रा)। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर इस प्रपञ्च को जानते हैं तथा रक्षा भी करते हैं (अर्थात् प्रपञ्च सत्य है, तभी तो परमेश्वर इसे जानते हैं तथा रक्षा करते हैं)। इसलिये द्वैत भ्रान्ति (भ्रम Illusion) के द्वारा कल्पित नहीं है (सत्य है)। ईश्वर को भी सभी पदार्थों के विषय में भ्रान्ति होगी—यह सम्भव नहीं है क्योंकि भ्रान्ति विशेष (भेद) के अ-दर्शन पर निर्भर करती है। [ईश्वर के लिये कोई भी पदार्थ अदृश्य नहीं—वे सब कुछ देखते हैं इसलिये उन्हें भ्रान्ति नहीं होगी।]

फिर [माण्डूक्य कारिका में] उसका उल्लेख ही क्यों हुआ ? [ईश्वर के लिये 'अद्वैतः सर्वभावानाम्' आदि श्लोकों में अद्वैत शब्द से क्यों अभिहित किया गया है ?] इसका उत्तर है कि परमार्थ से अद्वैत तत्त्व होता है। 'परमार्थ से' का मतलब है परमार्थ की अपेक्षा रखने पर। इसलिये अभिप्राय यही है कि सबों से ऊँचा विष्णु-तत्त्व है, कोई न तो उसके समान है, न उससे ऊँचा।

विशेष—अद्वैत की खींच-तान खूब ही की गई है। तत्त्व परमार्थतः अद्वैत है अर्थात् परम (सबसे ऊँचे) अर्थ (= विष्णु) को लक्षित करने पर तत्त्व अद्वैत ही है। विष्णु सबसे ऊँचा है, एक ही तत्त्व है क्योंकि उतना ऊँचा कोई तत्त्व नहीं, न तो उसकी कोई बराबरी कर सकता न उससे बढ़ सकता है। अतः अद्वैत का अर्थ है सबसे ऊँचा, न कि एकमात्र तत्त्व।

तथा च परमा श्रुतिः—

१७. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥

१८. मिथश्च जडभेदो यः प्रपञ्चो भेदपञ्चकः ।
सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात् ॥
१९. न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः ।
कल्पितश्चेन्निवर्तेत न चासौ विनिवर्तते ॥
२०. द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम् ।
मतं हि ज्ञानिनामेतन्मितं त्रातं हि विष्णुना ॥

तस्मान्मात्रमिति प्रोक्तं परमो हरिरेव तु । इत्यादि । तस्माद्विष्णोः सर्वोत्कर्ष एव तात्पर्यं सर्वागमानाम् ।

इसीलिए परम श्रुति यही है—'जीव और ईश्वर में भेद है, जड़ और ईश्वर में भेद है, जीवों में परस्पर भेद है, जड़ और जीवों में भेद है, जड़ों में भी परस्पर भेद है—इस प्रकार संसार (प्रपंच) में पाँच प्रकार के भेद हैं। यही भेद सच्चा है और अनादिकाल से चला आ रहा है। यदि इसका कहीं आरंभ हुआ होता तो नष्ट भी हो जाता ॥ १८ ॥ किन्तु यह नष्ट (समाप्त) नहीं होता, यह भ्रान्ति से भी कल्पित नहीं है। यदि कल्पित होता तो इसकी समाप्ति भी हो सकती। लेकिन इसकी समाप्ति नहीं होती ॥ १९ ॥ इसलिए 'द्वैत की सत्ता नहीं है' ऐसा सिद्धान्त अज्ञानियों का है। ज्ञानियों का तो यह मत है कि इस प्रपंच की मिति (नापा जाना) तथा रक्षा विष्णु के द्वारा होती है इसलिए इसे 'मात्र' कहते हैं, हरि ही सबसे ऊँचे हैं।' इत्यादि।

अतएव सभी आगमों का तात्पर्य यही है कि विष्णु ही सबसे ऊँचे हैं।

(९. ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता के अन्य प्रमाण)

एतदेवाभिसंधायाभिहितं भगवता—

२१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
२२. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
२३. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

२४. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
२५. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥
(गी० १५।१६–२०) इति ।

इन्हीं बातों पर ध्यान रखते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा है—'संसार में ये ही दो पुरुष हैं, क्षर और अक्षर। ये सभी पदार्थ (Beings) क्षर (Perishable) हैं, वह कूटस्थ अर्थात् अविकृत पदार्थ ही अक्षर (Imperishable) कहा जाता है[1] ॥ २१ ॥ इनसे पृथक् एक दूसरा पुरुष है जो परमात्मा के नाम से पुकारा जाता है। वह अव्यय (Undecaying) ईश्वर है जो तीनों लोकों को अपने में समेट करके ही धारण करता है ॥ २२ ॥

[कृष्ण आगे कहते हैं—] 'चूँकि मैं क्षर-पदार्थ के ऊपर हूँ तथा अक्षर से भी ऊँचा हूँ, इसलिये लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम के रूप में विख्यात हूँ ॥ २३ ॥ संमोह (Infatuation) से रहित होकर जो व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है; हे अर्जुन, वह सब कुछ जान जाता है तथा सब प्रकार से मुझे भजता है ॥ २४ ॥ हे निष्पाप (अर्जुन), इस प्रकार मैंने सबसे अधिक गोपनीय शास्त्र का वर्णन किया, हे अर्जुन, इसे जान कर मनुष्य बुद्धिमान् (आन्तरिक ज्ञान सम्पन्न) तथा कृतकृत्य (अपने कार्यों को समाप्त कर देने वाला) हो जाता है।' (गीता १५।१६-२०)।

(१०. मोक्ष ईश्वर के प्रसाद से ही मिलता है)

महावराहेऽपि—
२६. मुख्यं च सर्ववेदानां तात्पर्यं श्रीपतौ परे ।
उत्कर्षे तु तदन्यत्र तात्पर्यं स्यादवान्तरम् ॥ इति ।

---

१. तुल०—ब्रह्मा शिवः सुरेशाद्याः शरीरक्षरणात्क्षराः ।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः ॥
ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि क्षर हैं क्योंकि इनके शरीर नष्ट होते हैं। अक्षर देह होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है। इन दोनों चेतनों से भिन्न हरि हैं। लोक= संसार या पर्यालोचना करने पर।

युक्तं च विष्णोः सर्वोत्कर्षे महातात्पर्यम्। मोक्षो हि सर्व-पुरुषार्थोत्तमः।

२७. धर्मार्थकामाः सर्वेऽपि न नित्या मोक्ष एव हि।
नित्यस्तस्मात्तदर्थाय यतेत मतिमान्नरः॥
इति भाल्लवेयश्रुतेः।

महावराह (पुराण) में भी कहा गया है कि सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य परम श्रीपति (विष्णु) में ही स्थित है, उनसे भिन्न किसी देवता के गुणों में तात्पर्य होना तो गौण (Subordinate purport) है॥ २६॥ यह युक्तिसंगत है कि विष्णु के उत्कर्ष का वर्णन ही महान् (मुख्य) तात्पर्य [उन वेदों का] है। मोक्ष ही सभी पुरुषार्थों में ऊँचा है जैसा कि भाल्लवेय उपनिषद् में कहा गया है—'धर्म, अर्थ और काम ये सब कोई भी नित्य नहीं हैं; नित्य कोई है तो मोक्ष—इसलिये उसी की प्राप्ति के लिये बुद्धिमानों को प्रयत्न करना चाहिए।'

मोक्षश्च विष्णुप्रसादमन्तरेण न लभ्यते।

२८. यस्य प्रसादात्परमार्त्तिरूपा-
दस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण।
नारायणोऽसौ परमो विचिन्त्यो
मुमुक्षुभिः कर्मपाशादमुष्मात्॥
इति नारायणश्रुतेः।

२९. तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तात्
निःसंशयं मुक्तिफलं प्रयान्ति॥
(वि० पु० १।१७।९१)

इति विष्णुपुराणोक्तेश्च। प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव नाभेद-ज्ञानादित्युक्तम्।

विष्णु की कृपा के बिना मोक्ष नहीं मिलता जैसा कि नारायण उपनिषद् में कहा गया है—'जिनकी कृपा पाकर परम दुःख-रूपी इस संसार से लोग मुक्त

हो जाते हैं, दूसरे लोग (बिना कृपा पाये) नहीं। इस कर्म के जाल से मुक्त होने की इच्छा रखने वालों को उन परम नारायण का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए।' ॥ २८ ॥ विष्णुपुराण में भी कहा गया है—'उन भगवान् (विष्णु) के प्रसन्न हो जाने पर इस लोक में कौन पदार्थ दुर्लभ है ? धर्म, अर्थ और काम की प्रार्थना करना व्यर्थ है क्योंकि वे बहुत थोड़े हैं (अस्थायी हैं)। अनन्त ब्रह्मवृक्ष पर आश्रित रह कर [मुक्ति के इच्छुक लोग] निःसन्देह मुक्ति रूपी फल प्राप्त करते हैं।' ॥ २९ ॥ यह कहा गया है कि गुणों के उत्कर्ष का ज्ञान होने से ही [भगवान् की] कृपा प्राप्त होती है, अभेद का ज्ञान होने से नहीं (जैसा कि अद्वैतवादी कहा करते हैं)।

(११. 'तत्त्वमसि' का अर्थ)

न च तत्त्वमस्यादितादात्म्यव्याकोपः। श्रुतितात्पर्यापरिज्ञानविजृम्भणात्।

३०. आह नित्यपरोक्षं तु तच्छब्दो ह्यविशेषतः।
त्वंशब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत् ॥

३१. आदित्यो यूप इतिवत्सादृश्यार्था तु सा श्रुतिः। इति।

तथा च परमा श्रुतिः—

३२. जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु।
एकस्थाननिवेशो वा व्यक्तिस्थानमपेक्ष्य सः ॥

३३. न स्वरूपैकता तस्य युक्तस्यापि विरूपतः।
स्वातन्त्र्यपूर्णतेऽल्पत्वपारतन्त्र्ये विरूपते ॥ इति।

ऐसा कहना ठीक नहीं कि 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) इस वाक्य में स्थित [जीव और ईश्वर के बीच] तादात्म्य-सम्बन्ध से कोई विरोध है क्योंकि ऐसा कहना वेदों के तात्पर्य को न जानकर किया गया बकवाद (Babbling) है।

[प्रश्न यह है कि] 'तत्' शब्द सामान्य-रूप से नित्य-परोक्ष पदार्थ का बोध कराता है, दूसरी ओर, 'त्वम्' शब्द प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक है दोनों में एकता कैसे हो सकती है ? [किन्तु उत्तर यही होगा कि] इस श्रुतिवाक्य में 'आदित्य ही यूप है' (= आदित्य के समान यूप है)—इस वाक्य की तरह ही [लक्षणा] से सादृश्य का अर्थ है। [जिस प्रकार आदित्य और यूप (यज्ञ का खूँटा) में एकता असम्भव देख कर सादृश्य—अर्थ की कल्पना होती है उसी

प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' में एकता असम्भव होने से इस श्रुति में जीव को ब्रह्म का सरूप (सदृश) मानने का तात्पर्य लिया जाता है।]

जैसा परम श्रुति में कहा गया है—'जीव की परम (Ultimate) एकता का अर्थ है बुद्धि (ज्ञान) में समरूप (Similar) हो जाना [यद्यपि परमात्मा के ज्ञान के अनुसार जीव का ज्ञान होने के कारण परमात्मा जो जो जान सकता है वही जीव नहीं जान सकता], या एक ही स्थान पर रहना (वैकुण्ठ लोक में जीव और परमात्मा का एक साथ रहना ही जीव की एकता है), किन्तु यह निवास मूलस्थान के व्यंजक (वैकुण्ठ लोक) को ही ध्यान में रखते हुए कहा गया है। ['एक साथ निवास करना' कहने पर बद्ध जीवों के साथ भी परमात्मा का रहना सम्भव है, पर ऐसी बात नहीं। मूलस्थान अर्थात् वैकुण्ठलोक में ही एक स्थान पर रहने का अभिप्राय है इसीलिए 'व्यक्ति स्थान', का उल्लेख किया गया है।]' ॥ ३२ ॥

'जीव [बद्ध तो क्या,] यदि मुक्त हो जाय तब भी विरुद्ध धर्म होने के कारण (विरूपतः) ईश्वर से स्वरूप में एक नहीं हो सकता। उन दोनों में विरूपतायें यही हैं—ईश्वर में स्वतन्त्रता और पूर्णता है जब कि जीव में अल्पता (अणुत्व) और परतन्त्रता है ॥ ३३ ॥'

(११ क. तत्त्वमसि का दूसरा अर्थ)

अथवा तत्त्वमसीत्यत्र स एवात्मा स्वातन्त्र्यादिगुणोपेतत्वात्। अतत्त्वमसि त्वं तत्र भवसि तद्रहितत्वादित्येकत्वमतिशयेन निराकृतम्। तदाह—

अतत्त्वमिति वा छेदस्तेनैक्यं सुनिराकृतम्। इति।

तस्माद् दृष्टान्तनवकेऽपि 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः' (छा० ६।८।२) इत्यादिना भेद एव दृष्टान्ताभिधानान्नायमभेदोपदेश इति तत्त्ववादरहस्यम्।

[अब 'आत्मा तत्त्वमसि' की व्याख्या दूसरे प्रकार से करने के लिए इसका पदच्छेद दूसरे रूप में करते हैं कि 'आत्मा + अतत् + त्वमसि' = तुम वही नहीं हो। इसके लिए वे कहते हैं—] या यह भी सम्भव है कि 'तत्त्वमसि' में [इसके पूर्व] उसी आत्मा (परमात्मा) का अर्थ हो जो स्वतन्त्रता आदि गुणों से युक्त है। [किन्तु इसके बाद] 'अतत् त्वम् असि' का अर्थ यही है कि तुम वही (परमात्मा) नहीं हो क्योंकि स्वतन्त्रता आदि वे गुण तुममें नहीं हैं।

इसलिये दोनों की एकता का निराकरण अच्छी तरह किया गया है। जैसा कि कहते हैं—'अतत् त्वम्' के रूप में छेद करें जिससे [जीव और ईश्वर की] एकता अच्छी तरह निराकृत कर दी जाय।

[फिर भी प्रश्न हो सकता है कि छान्दोग्योपनिषद् में जहाँ से यह वाक्य लिया गया है वहाँ पर तो नव उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि जीव और ईश्वर एक हैं—तत् त्वम् असि। इसके उत्तर में वे कहते हैं—] इसीलिए नवों दृष्टान्तों के द्वारा, 'जैसे पक्षी सूते में बँध जाने पर' इत्यादि (छा० ६।८।२) वाक्यों से भेद का प्रतिपादन है, दृष्टान्त देकर यह समझाया गया है कि इनमें अभेद (अद्वैत) का उपदेश नहीं है—ऐसा तत्त्ववादरहस्य में कहा गया है।]

विशेष—छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में सद्विद्या का प्रकरण है। वहाँ आठवें खंड से आरम्भ करके सोलहवें खण्ड तक (कुल नव खण्डों में) प्रत्येक खण्ड में एक-एक उदाहरण देकर अंत में 'आत्मा तत्त्वमसि' निष्कर्ष निकाला गया है। वहाँ स्पष्ट रूप से ऐक्य का प्रतिपादन है, पर मध्व भेद स्वभाव के कारण दृष्टान्तों को भेद-प्रतिपादक मानते हैं। उन दृष्टान्तों का अवलोकन करें।

(१) प्रथम खण्ड में यह कहा गया कि सुषुप्ति अवस्था (Sleep) का अनुभव सभी प्राणी करते हैं। इसी अवस्था में जीव सद्रूप (Having reality as essence) ब्रह्म से संपन्न होता है। इसके लिए दृष्टान्त है—जैसे व्याध के हाथ में स्थित रस्सी में बंधा हुआ पक्षी बंधन से बचने के लिए इधर-उधर गिरकर कहीं आश्रय न पाकर फिर बन्धन में ही लौट आता है, उसी प्रकार जीव भी स्वप्न और जागृति की अवस्था में इधर-उधर गिरकर कहीं विश्रान्ति न पाने पर सुषुप्ति अवस्था में सद्रूपी ब्रह्म का ही आश्रय लेता है। मध्व कहते हैं कि इस दृष्टान्त में आश्रय-आश्रित का भेद है, यह शकुनि (पक्षी) और सूते के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। अतः ब्रह्म और जीव में भी भेद है। वही 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' कह कर दिखलाया गया है। [उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को यह समझाते हैं।]

(२) द्वितीय खंड में यह बतलाया गया है—'इस शरीर में जीव को आश्रय देने वाला उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि भेदरूप में किसी ऐसे पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती।' इस शंका के निवारण के लिए दृष्टान्त है—जैसे भौंरे नाना प्रकार के वृक्षों के फूलों का रस लाकर एकत्र करते हैं तब मधु बनता है। उसके रस भिन्न होने पर भी यह नहीं जानते कि मैं इस फूल का रस हूँ, वह उस फूल का—इस प्रकार वे आपसी भेद नहीं जानते। वैसे ही जीव भी अपने

आश्रय को नहीं जानते। वास्तव में आश्रय तो है ही। इस प्रकार 'जहाँ भेद नहीं दिखलाई पड़ता, वहाँ भेद है ही नहीं'— इस नियम का उल्लंघन हुआ। भेद नहीं दिखलाई पड़ने पर भी भेद की सत्ता रह सकती है। फिर भी शंका हो सकती है कि चेतन पदार्थों में तो यह नियम रहेगा ही कि भेद न दिखलाई पड़ने पर भेद नहीं हो। इसका उत्तर आगे है।

(३) तृतीय खंड में कहते हैं कि जैसे गंगा, यमुना आदि नदियों की चेतन देवियाँ समुद्र में चली जाने पर यह नहीं जानतीं, कि मैं गंगा हूँ, वह यमुना, और मेघ के द्वारा समुद्र से निकल जाने पर भी अपना अस्तित्व नहीं जानतीं, मेघ से पृथ्वी पर गिरने पर भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं, उसी प्रकार जीव भी जागृति-सुषुप्ति में आश्रय का ज्ञान नहीं रखता। परन्तु मध्व के अनुसार भेद तो है ही। इस प्रकार चेतन पदार्थों में भी उस नियम का उल्लंघन होता है। फिर भी शंका होगी कि ईश्वर जीव से भिन्न होने पर भी जीव को अपने अधीन कैसे रखेगा ?

(४) चतुर्थ खंड में इसका उत्तर है। वृक्ष के मूल में, बीच में, आगे में या कहीं भी आघात होने पर केवल रस का स्राव (Flow) होता है, वृक्ष ही नहीं सूख जाता। कभी-कभी तो बाहरी कारण के अभाव में भी वृक्ष सूख जाता है—यह जीव के अधीन नहीं है। जीव तो सदा सुख ही चाहता है। जैसे वृक्ष के शरीर में रहने वाला जीव ईश्वर के अधीन है वैसे ही मनुष्यादि के शरीर में रहने वाला जीव भी ईश्वराधीन ही होगा। इससे भेदवादी जीव से भिन्न, जीवाश्रय के रूप में ईश्वर की सिद्धि करते हैं। फिर भी अद्वैतवादी शंका करेंगे कि किस कारण से ईश्वर का ज्ञान जीव को नहीं होता ?

(५) पंचम खंड में इसके समाधान के लिए कहा है कि जैसे वटवृक्ष के फल को तोड़ने पर सूक्ष्म बीज दिखलाई पड़ते हैं। इन बीजों के तोड़ने पर कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता क्योंकि ये बीज के बीज और भी सूक्ष्म हैं। किन्तु इन सूक्ष्मतर बीजावयवों से ही विशाल वटवृक्ष उत्पन्न होता है। ईश्वर भी जीव की अपेक्षा परम सूक्ष्म होने के कारण ज्ञात नहीं होता। सूक्ष्म अवयवों (कारण) को न देखने पर भी हम वटवृक्ष (कार्य) को देख सकते हैं। वैसे ही कार्यरूप संसार को देखने पर भी कारण-स्वरूप ईश्वर को नहीं देख सकते। पर इस पर विश्वास कैसे करें ?

(६) षष्ठ खंड में उत्तर दिया गया है कि पानी में डालने पर नमक जब विलीन हो जाता है तब कहीं दिखलाई नहीं पड़ता, त्वचा (Skin) से भी स्पर्श का अनुभव नहीं होता, हाँ, जीभ से उसे जान सकते हैं। जैसे लवण के

गुण (रस) का अनुभव करने पर भी लवण दिखलाई नहीं पड़ता वैसे ही ईश्वर की सामर्थ्य का दर्शन होने पर भी ईश्वर दिखलाई नहीं पड़ते। फिर ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म ईश्वर को जानते और पाते कैसे हैं ?

(७) सप्तम खंड में कहा है कि जैसे गान्धार देश के एक धनी निवासी को चोर मिलकर हाथ पैर बाँध दें, आँखों पर पट्टी बाँध दें और सब कुछ छीन कर जंगल में छोड़ दें—उसे ऐसी अवस्था में रोते कलपते देखकर कोई दयालु पुरुष बंधन से छुड़ा दे और कह दे कि इस दिशा में गांधार देश है, चले जाओ, वह धनी भी गाँव-गाँव घूमते हुए गान्धार पहुँच जाता है; ठीक उसी प्रकार कर्मरूपी चोरों के द्वारा जीव का सारा ज्ञान छीन लिया जाता है और वह जीव शरीररूपी जंगल में छोड़ दिया जाता है, कोई कृपालु सद्‌गुरु उसे उपदेश देते हैं और वह श्रवण, मनन आदि साधनों से होते हुए अपनी जन्मभूमि अर्थात् भगवान् को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वृक्ष के शरीर में स्थित जीव भगवान् के अधीन है वैसे ही मनुष्य के शरीर में भी अनुमान कर लें, यह चतुर्थ खण्ड का तात्पर्य यहाँ भी कहा है। अब मनुष्य के शरीर में ही जीव की ईश्वराधीनता का अनुभव होता है इसके लिए अष्टम खण्ड में लिखते हैं।

(८) अष्टम खंड में कहा है कि मनुष्य की जब मृत्यु निकट आती है तब वाणी आदि का नाश होने से वह कुछ बोल नहीं पाता, निकट आये हुए बन्धु-बान्धवों को भी नहीं पहचानता। ईश्वराधीन होने के कारण जीव भी उसी दशा का अनुभव करता है।

(९) नवम खंड में कहा है कि जिस चोर पर राजा को सन्देह है, उसके यह कहने पर भी कि मैंने चोरी नहीं की है, राजाधिकारी लोग परीक्षा के लिए गर्म लोहा उसके हाथ पर रखते हैं। झूठ बोलने वाला चोर जल जाता है, सत्य बोलने वाला सत्य के द्वारा व्यवधान पड़ने से नहीं जलता। इसी तरह तत्त्व को जानने वाला भी मुक्त हो जाता है दूसरे लोग बन्धन में रहते हैं। परमात्मा को भेदरूप में जानने वाला ही तत्त्वज्ञानी है।

इस प्रकार नवों स्थानों में भेद का ही प्रतिपादन है। पक्षी और सूते में, विभिन्न वृक्षों के रसों में, नदी और समुद्र में, जीव और वृक्ष में, वटवृक्ष और सूक्ष्म बीजों में, नमक और पानी में, गान्धार और पुरुष में, मरणासन्न और उसके बन्धुओं में तथा चोर और वस्तु में ऐक्य हो नहीं सकता। विशेष के लिए छांदोग्योपनिषद् ही देखें।

(११ ख. उक्त नव दृष्टान्तों से भेदसिद्धि)

तथा च महोपनिषद्—

३४. यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा।

यथा नद्यः समुद्राश्च यथा जीवमहीरुहौ ॥
३५. यथाणिमा च धाना च शुद्धोदलवणे यथा ।
चोरापहार्यौ च यथा यथा पुंविषयावपि ॥
३६. यथाज्ञो जीवसंघश्च प्राणादेश्च नियामकः ।
तथा जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ ॥
३७. तथापि सूक्ष्मरूपत्वान्न जीवात्परमो हरिः ।
भेदेन मन्ददृष्टीनां दृश्यते प्रेरकोऽपि सन् ॥
३८. वैलक्षण्यं तयोर्ज्ञात्वा मुच्यते बध्यतेऽन्यथा । इति ।

इसलिए महोपनिषद् में कहा गया है—'जैसे पक्षी और सूत्र, जैसे नाना प्रकार के वृक्षों के रस, जैसे नदियाँ और समुद्र, जैसे जीव और वृक्ष, जैसे अणुता और धारणशक्ति, जैसे शुद्ध जल और नमक, जैसे चोर और अपहरणीय वस्तु, जैसे पुरुष और उसके विषय, जैसे अज्ञ जीवों का समूह और प्राणादि का नियामक—ये सब भिन्न हैं उसी प्रकार जीव और ईश्वर विभिन्न लक्षणों के होने के कारण सदा ही भिन्न हैं ॥ ३४-३६ ॥ फिर भी सूक्ष्मरूप होने के कारण परम (सर्वोच्च) हरि को मन्द दृष्टि वाले पुरुष जीव से भिन्न रूप में नहीं देखते हैं यद्यपि वे ही (हरि) सबों को कार्य में प्रवृत्त करते हैं ॥ ३७ ॥ इन दोनों की विलक्षणता (Difference) जानने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है, नहीं तो वह बन्धन में पड़ा रहता है ॥'

विशेष—छान्दोग्योपनिषद् के उक्त नव उदाहरणों का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसमें भी क्रम में कुछ परिवर्तन किया गया है। एक ही बात—भेद—का प्रतिपादन करने से कुछ एकरसता-सी लगती है।

३९. ब्रह्मा शिवः सुराद्याश्च शरीरक्षरणात्क्षराः ।
लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरा तत्परो हरिः ॥
४०. स्वातन्त्र्यशक्तिविज्ञानसुखाद्यैरखिलैर्गुणैः ।
निःसीमत्वेन ते सर्वे तद्वशाः सर्वदैव च ॥ इति ।
४१. विष्णुं सर्वगुणैः पूर्णं ज्ञात्वा संसारवर्जितः ।
निर्दुःखानन्दभुङ् नित्यं तत्समीपे स मोदते ॥

४२. मुक्तानां चाश्रयो विष्णुरधिकोऽधिपतिस्तथा।
तद्वशा एव ते सर्वे सर्वदैव स ईश्वरः॥
इति च।

'ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि क्षर कहलाते हैं क्योंकि इनके शरीर नाशवान् हैं, अनश्वर शरीर होने के कारण लक्ष्मी अक्षरा है, हरि इन दोनों से परे हैं ॥३९॥ स्वतन्त्रता, शक्ति, विज्ञान, सुख आदि सभी गुणों के ईश्वर में असीम मात्रा में होने के कारण सर्वदा सभी पदार्थ उनके वश में रहते हैं ॥ ४० ॥'

'विष्णु को सभी गुणों से परिपूर्ण जानकर, पुरुष संसार (आवागमन) से मुक्त हो जाता है, दुःख से रहित आनन्द का भोग करते हुए नित्यरूप से वह (पुरुष) परमात्मा के पास सुख-भोग करता है ॥ ४१ ॥ मुक्त पुरुषों के आश्रय विष्णु ही हैं, सर्वोच्च स्वामी वे ही हैं। उन्हीं के वश में वे सब हमेशा के लिए रहते हैं, वे ही ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥'

(१२. एक के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान—इसका अर्थ)

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च प्रधानत्वकारणत्वादिना युज्यते न तु सर्वमिथ्यात्वेन। न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानं संभवति। यथा प्रधानपुरुषाणां ज्ञानाज्ञानाभ्यां ग्रामो ज्ञातोऽज्ञात इत्येवमादिव्यपदेशो दृष्ट एव। यथा च कारणे पितरि ज्ञाते जानात्यस्य पुत्रमिति। यथा वा सादृश्यादेकस्त्रीज्ञानाद् अन्यस्त्री-ज्ञानमिति।

[छान्दोग्योपनिषद् (६।१।४) में एक वाक्य है—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'। इसके पूर्व में वाक्य है—एवं चाविज्ञातं विज्ञातं भवति। इन उद्धरणों में एक के ज्ञान से सभी अविज्ञात वस्तुओं के ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसका अर्थ अद्वैतवेदान्ती लोग जगत् को मिथ्या मानते हुए करते हैं। जगत् ब्रह्म की शक्ति अविद्या से विवर्तरूप से उत्पन्न हुआ है, वह मिथ्या है इसीलिए वास्तव में आत्मा का ज्ञान ही सब कुछ है, उसे जानने से ही सबों का ज्ञान हो जाता है—इसी के आधार पर जगत् को मिथ्या मानते हैं। लेकिन मध्वाचार्य इस श्रुतिवाक्य का दूसरे रूप में अर्थ करते हैं, दोनों के फलों या निष्कर्षों में अन्तर है। उनका कहना है कि] एक के जानने से सबों का जानना इसलिए युक्तियुक्त है कि प्रधानता या कार्यकारण-सम्बन्ध आदि होने के कारण ऐसा कहा गया है, इसलिए नहीं कि सब कुछ मिथ्या है।

इसका कारण यह है कि सत्य वस्तु (जैसे शुक्ति, ब्रह्म आदि) के ज्ञान से मिथ्या वस्तु (रजत, जगत् आदि) का ज्ञान सम्भव नहीं है। [सीपी को जानने से चांदी को भी जान लेगा, ऐसी स्थिति कहीं नहीं है बल्कि यही ज्ञान हो सकता है कि यह चाँदी नहीं है। दोनों ज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं।][1]

[अब प्रधानता, कार्यकारणसंबंध तथा सादृश्य के कारण उक्त श्रुति कैसे युक्तियुक्त है इसका विवेचन करते हैं—] जैसे किसी गाँव के प्रधान व्यक्तियों को जानने या न जानने से गाँव को ही जानने या नहीं जानने का लौकिक-प्रयोग लोगों में साधारणतः देखा जाता है। पुनः जिस प्रकार कारण के रूप में पिता को जान लेने पर उसके पुत्र को भी जान लेते हैं अथवा जिस तरह **सादृश्य** के कारण एक स्त्री को जान लेने पर दूसरी स्त्रियों का ज्ञान हो जाता है।

विशेष—एक विज्ञान से सबों का विज्ञान स्वरूप पर आधारित नहीं है, फल पर ही निर्भर करता है। ऐसी बात नहीं है कि एक वस्तु का स्वरूप जान लेने पर सभी वस्तुओं का विधिवत् ज्ञान हो जाता है। बल्कि सबों के ज्ञान का फल एक के ज्ञान से ही मिलता है। प्रधान वस्तु के ज्ञान से सबों का ज्ञान होता है, कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है तथा किसी वस्तु के ज्ञान से उसकी तरह की अन्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। स्त्री का लक्षण है—स्तनों और केशों (कोमल) का होना,[2] इसे देखने से अन्य स्त्रियों के ज्ञान का फल मिल जाता है। दूसरी स्त्रियों को देखने पर अपने आप पहला ज्ञान चला आता है। किन्तु इस सादृश्य के आधार पर जीव और ईश्वर के बीच सादृश्य स्थापित नहीं कर सकते। कुछ बातों में ऐसा हो सकता है, पर सभी पहलुओं से नहीं। ब्रह्म और जीव में चैतन्य, सत्यता, ज्ञान आदि की तुलना हो सकती है परन्तु स्वतन्त्रता आदि कतिपय गुणों का सादृश्य नहीं है क्योंकि श्रुति प्रमाण से इसका विरोध होता है। अतः परमात्मा को सत्य रूप में जानकर जगत् को भी सत्य रूप में जान लेंगे—यह सिद्ध है।

तदेव सादृश्यमत्रापि विवक्षितं 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६।१।४) इत्यादिना। अन्यथा 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्' इत्यत्र

१. इसके विरुद्ध पतंजलि महाभाष्य में कहते हैं—यो हि शब्दाज्ञानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। (पस्पशाह्निक, व्याकरणप्रयोजनप्रकरण)।

२, तुलनीय—'स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः'।

एक-पिण्डशब्दौ वृथा प्रसज्येयाताम् । 'मृदा विज्ञातया' इत्येतावतैव वाक्यस्य पूर्णत्वात् ।

उपर्युक्त तीन प्रकार के सम्बन्धों में सादृश्य-सम्बन्ध ही इस निम्नलिखित उदाहरण में कहना अभीष्ट है—'हे सौम्य (प्रसन्नमुख शिष्य), जैसे मिट्टी के एक पिण्ड को जानने से मिट्टी जाति का ही बोध हो जाता है' (छा० ६।१।४) इत्यादि । यदि ऐसा नहीं होता (= सादृश्य इसका कारण नहीं होता, बल्कि उपादानोपादेय-भाव कारण होता) तब 'सौम्य, मिट्टी के एक पिण्ड से सभी मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है' इस वाक्य में 'एक' और 'पिण्ड' शब्द व्यर्थ ही हो जाते, केवल इतना कहने से ही वाक्य पूर्ण हो जाता—'मिट्टी को जानने से······' इत्यादि ।

विशेष—जब सादृश्य के कारण एक के जानने से सबों का ज्ञान होना मानेंगे तभी मिट्टी के किसी एक पिंड की अभिव्यक्ति दिखलाकर 'दूसरी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसी ही होती हैं' ऐसा ज्ञान दूसरों के विषय में हो जायगा । इस प्रकार एक शब्द का अपना महत्व होगा । सादृश्य के लिए भी भेद की तरह ही दो पदार्थ होते हैं—एक धर्मी, दूसरा प्रतियोगी । मिट्टी के बने घट आदि को धर्मी बनाकर मिट्टी का पिंड स्वयं प्रतियोगी हो जाता है । मिट्टी का बना हुआ पिंड भी है, घट भी । पिंड के सादृश्य से ही मिट्टी के दूसरे विकार घट का ज्ञान होता है । अतः पिंड शब्द भी सार्थक है ।

दूसरी ओर, यदि उपादानोपादेय-सम्बन्ध से उक्त वाक्य की प्रामाणिकता मानें तो एक और पिंड शब्दों की आवश्यकता नहीं रहेगी । इनके बिना भी वाक्य का पूरा-पूरा अर्थ निकलता । 'मृदा विज्ञातया सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'—केवल इतना ही कहते । कहीं की थोड़ी मिट्टी का ज्ञान उपादान (Material cause) होता और सारी मिट्टियों का ज्ञान उपादेय (effect) होता । परन्तु 'एक' और 'पिंड' शब्दों का प्रयोग निरर्थक नहीं, अतः सादृश्य संबन्ध ही विवक्षित है । इसके अलावे, एक और पिंड शब्दों में विरोध भी हो जायगा । एक ही मृत्पिंड सभी मृण्मय पदार्थों (Earthen objects) का उपादान कारण नहीं हो सकता । मिट्टी मृण्मय घट आदि का उपादान है, मिट्टी का पिंड नहीं । मिट्टी का पिंड तो घट बनाने के समय रूँध दिया जाता है पर मिट्टी ज्यों की त्यों रहती है । नष्ट होने पर मिट्टी का पिंड कारण कैसे होगा ?

न च 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६।१।५) इत्येतत्कार्यस्य मिथ्यात्वमाचष्ट इत्येष्टव्यम् ।

वाचारम्भणं विकारो यस्य तदविकृतं नित्यं नामधेयं मृत्तिकेत्यादिकमित्येतद्वचनं सत्यमित्यर्थस्य स्वीकारात्। अपरथा नामधेयमितिशब्दयोर्वैयर्थ्यं प्रसज्येत। अतो न कुत्रापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः।

ऐसा नहीं समझें कि निम्नलिखित वाक्य में कार्य (संसार) का मिथ्यारूप होना कहा गया है—'(घटादि) विकार केवल शब्दों में अवस्थित (शाब्दिक) नाममात्र है, वास्तव में तो [उन विकारों में कारण के रूप में विद्यमान] मृत्तिका ही सत्य है' (छा० ६।१।५)। [शंका करने वालों का यह कथन है कि 'वाचारम्भणम्०' वाला वाक्य 'यथा सोम्यैकेन०' वाले वाक्य का पूरक है, उसका दृष्टान्त है। घट, सुराही, सिकोरा, कटोरा आदि बर्तनों का कारण एकमात्र मिट्टी है, जिसे जान लेने पर सब बर्तनों का (मिट्टी से बने हुए बर्तनों का) ज्ञान हो जाता है। कारण का ज्ञान होने पर कार्य का ज्ञान हो ही जायगा क्योंकि कार्य-कारण परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अतः कारणरूप मिट्टी सत्य है, उसके विकार मिथ्या। इस पर पूर्णप्रज्ञ-दार्शनिक कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है—इसका कारण आगे देखें।]

कारण यह है कि इसका अर्थ हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। वागिन्द्रिय से उच्चारण करना विकार (उत्पादन) है, [अभिव्यंजन नहीं]। यह विकार जिस पदार्थ का होता है वह (पदार्थ) अविकृत (संस्कृत) है, नित्य है, नाम है जैसे मृत्तिका इत्यादि, यह वाक्य बिल्कुल सत्य है। यदि ऐसा अर्थ नहीं रखें तो 'नामधेय' और 'इति' दोनों शब्द व्यर्थ हो जायँगे। इसलिए कहीं भी (किसी श्रुतिवाक्य से) संसार को मिथ्यारूप सिद्ध नहीं कर सकते। [शब्द के दो स्वरूप हैं—असंस्कृत (अनित्य) और संस्कृत (नित्य)। अनित्य शब्दों का वागिन्द्रिय से केवल उत्पादन होता है, ये उत्पत्ति-विनाश होने के कारण ही अनित्य (Non-eternal) कहलाते हैं। 'मृत्तिका' आदि नित्य शब्दों का उत्पादन नहीं होता, उनकी अभिव्यक्ति (Manifestation) होती है क्योंकि उत्पत्ति-विनाश इनका होता ही नहीं। इस आकार में रहने वाला शब्दस्वरूप पदार्थ का वास्तविक नाम है। यही अविकृत और नित्य भी है। नामधेय संस्कृत (नित्य) और असंस्कृत (अनित्य) दोनों शब्दों से पड़ता है परन्तु योग्य नामधेय नित्य शब्द का ही है। 'विश्वविद्यालय में सत्यदेवजी ही अध्यापक हैं, दूसरे लोग छायामात्र हैं' इस वाक्य में 'अध्यापक' का अर्थ योग्य अध्यापक है। यद्यपि सभी अध्यापक ही हैं परन्तु अयोग्यता के कारण उन्हें ऐसा नहीं कहते। इसलिए उद्दालक श्वेतकेतु को कह रहे हैं कि वागिन्द्रिय से

उच्चारण करना (वाचारंभण) विकार (=विकृति, अनित्य) है, नामधेय तो मृत्तिका आदि शब्द (नित्य शब्द-स्वरूप) ही है,—यह वाक्य जो मैंने कहा यही ठीक है, झूठा नहीं। यदि शंका करने वालों के अनुसार—वाचारम्भणं विकारः, मृत्तिका सत्यम्—विकार केवल शाब्दिक या मिथ्या है, सत्य तो मृत्तिका ही है)—ऐसा अर्थ करें तो उक्त वाक्य में 'इति' और 'नामधेयम्' शब्द व्यर्थ हो जायँगे। अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा दिया गया अर्थ यहाँ देख ही चुके। हम अर्थ करते हैं—'मृत्तिका इत्येव नामधेयम्', यहाँ नामधेय शब्द विधेय हो जाता है। अद्वैत-पक्ष में इसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रहती। 'इति' का हमारे यहाँ यह उपयोग है कि 'मृत्तिका' को इसी के द्वारा शब्द के रूप में लेते हैं। मृत्तिकेति = 'मृत्तिका' इति शब्दः।[1]]

विशेष—इस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारः' को पूर्ववाक्य का पूरक न मानकर स्वतन्त्र दृष्टान्त मान लेते हैं। अविकृत और नित्य होने के कारण 'मृत्तिका' शब्द संस्कृत (प्रधान) नाम है। असंस्कृत नामों के जानने का जो फल है वह संस्कृत नाम को जानने से ही प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार संसार को जानने का फल परमात्मा के ज्ञान से प्राप्य है। किसी रूप में संसार मिथ्या नहीं, वह सत्य (Real) ही है।

(१३. मिथ्या का खण्डन)

किं च प्रपञ्चो मिथ्येत्यत्र मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा। प्रथमे सत्याद्वैतभङ्गप्रसङ्गः। चरमे प्रपञ्चसत्यत्वापातः। नन्वनित्यत्वं नित्यमनित्यं वा। उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याक्षेपवदयमपि नित्यसमजातिभेदः स्यात्।

तदुक्तं न्यायनिर्माणवेधसा—'नित्यमनित्यभावादनित्ये

---

१. 'इति' शब्द की उपयोगिता केवल उद्धरण देने में ही नहीं है, प्रत्युत पदार्थों का विपर्यय भी यह करता है। जब किसी शब्द से शब्द का ही अर्थ निकलता है तब उसमें इति लगा देने पर अर्थपरक अर्थ हो जाता है। 'अग्नेर्ढक्' (पा० सू० ४।२।३३) कहने पर 'अग्नि' शब्द (अर्थ नहीं) से ढक् प्रत्यय विहित है। उसी प्रकार 'न वेति विभाषा' (१।१।४४) कहने पर भी 'न' और 'वा' शब्दों की प्राप्ति होती है जब कि इति के प्रयोग के कारण यहाँ न = निषेध और वा=विकल्प अर्थ लेते हैं, शब्द से काम नहीं चलता। 'गवित्ययमाह, में अर्थ की प्राप्ति को इति शब्द ही रोकता है और शब्द की प्राप्ति कराता है।

नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः' (न्या० सू० ५।१।३५) इति। तार्किकरक्षायां च—

४३. धर्मस्य तदतद्रूपविकल्पानुपपत्तितः।
धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभङ्गो नित्यसमो भवेत् ॥ इति।

अस्याः संज्ञाया उपलक्षणत्वमभिप्रेत्याभिहितं प्रबोधसिद्धावन्वर्थित्वात्तूपरञ्जकधर्मसमेति। तस्मादसदुत्तरमिति चेत्—।

इसके अतिरिक्त हम यह पूछें कि 'प्रपंच (संसार) मिथ्या है' इस वाक्य में 'मिथ्या होना' वास्तव में तथ्य (Fact) है या नहीं (= झूठा है)? यदि प्रपंच का मिथ्या होना सत्य मानते हैं तो सत्य अद्वैत का खण्डन होता है। [वास्तव में सत्य एक होता है। अद्वैतवादी केवल ब्रह्म या अद्वैत-तत्त्व को ही सत्य स्वीकार करते हैं। यदि प्रपंच का मिथ्या होना भी सच मान लें तो पहले सत्य का भंग हो जाता है। एक साथ ही दो-दो सत्यों को मानने का प्रसंग आ पड़ेगा।] दूसरी ओर यदि प्रपंच का मिथ्या होना झूठ समझ लें तब प्रपंच को सत्य ही मानना पड़ेगा [जिससे मायावाद का आधार ही नष्ट हो जायगा]।

कुछ लोग ऐसा तर्क कर सकते हैं कि हमारे द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त द्विविधा (Dilemma) ठीक निम्नांकित द्विविधा की तरह ही 'नित्यसम' नामक ज़ाति (न्यायशास्त्र का एक दोष) का उदाहरण हो जायगा—अनित्य होना क्या नित्य है या अनित्य? दोनों ही विकल्पों की असिद्धि होती है (ऐसा तर्क दोषपूर्ण हो जाता है।) [कहने का अभिप्राय यह है कि अनित्यत्व को यदि नित्य या अनित्य के रूप में लेकर तर्क द्वारा दोनों पक्षों का खण्डन कर दिया जाय तो यह उचित ढंग नहीं है, न्यायशास्त्र में कही गयी जाति नामक दोषों की कोटि में यह आ जायगा। दूसरों के द्वारा किये गये प्रश्न का असमीचीन (गलत) उत्तर देना 'जाति' है। उत्तर इसलिए गलत माना जाता है कि दोष उसमें नहीं दिखला सकते। गौतम ने न्यायसूत्र के पंचम अध्याय के प्रथम आह्निक में इस जाति के २४ भेद बतलाये हैं। उनमें एक भेद 'नित्यसम' भी है। यहाँ यही जाति लगती है। यदि 'प्रपंच का मिथ्या होना' उसी प्रकार तथ्य या अतथ्य मानकर खण्डित कर दें तो नित्यसम जाति हो जायगी। अब नित्यसम जाति के विषय में कुछ विचार कर लें।]

न्यायशास्त्र के निर्माण में ब्रह्मा बाबा की तरह पूज्य [गौतम] कहते हैं—अनित्य होने के कारण [अनित्यत्व] नित्य है, क्योंकि अनित्य में नित्यत्व की

सिद्धि होती है, इस प्रकार का तर्क करना **नित्यसम** कहलाता है (गौतमीय-न्यायसूत्र, ५।१।३५)। [अभिप्राय यह है कि स्वयं अनित्यत्व (Non-eternity) को स्थायी मान लेते हैं, वह इस आधार पर कि अनित्यत्व भले ही अस्थायी हो परन्तु अनित्यत्व के अभाव की अवस्था में शब्द अनित्य नहीं माना जा सकता ।] इसे वरदाचार्य (१०५० ई०) ने अपने तार्किकरक्षा नाम के ग्रन्थ में पल्लवित किया है—'जब धर्म का (जो शब्दगत है तथा अनित्यत्व के रूप में है) तद्रूप होना (= अनित्य होना) या अतद्रूप होना (नित्य होना), ये दोनों विकल्प असिद्ध हो जाते हैं तब धर्मी (शब्द) का उन विकल्पों के द्वारा विभूषित होने की दशाओं का खण्डन होता है, इसे ही नित्यसम कहते हैं ।' [अनित्यत्व अनित्य है या नित्य इन दोनों में कोई भी सिद्ध नहीं होता । उलटे इनसे विरुद्ध वाक्य की सिद्धि हो जाती है]

इसी संज्ञा (= नित्यसम) को आदर्श मानकर प्रबोधसिद्धि नाम के ग्रन्थ में कहा है कि अर्थ के अनुसार [प्रस्तुत प्रसंग में नित्यसम के समान ही] उपरंजकसम नाम की जाति मानें । अतः पूर्वपक्षी लोगों का यह कहना है कि मिथ्या के खण्डन के लिए आपका तर्क असंगत है ।

विशेष—मिथ्या का खण्डन करने के लिए पूर्णप्रज्ञ यही तर्क देते हैं—

'प्रपञ्च मिथ्या है' (प्रपञ्चो मिथ्या)

इस वाक्य में मिथ्यात्व तथ्य है या अतथ्य । उपर्युक्त विवेचन में दोनों विकल्पों की निस्सारता देखी जा चुकी है । अब मिथ्या को मानने वाले लोग कहते हैं कि इस तर्क से मिथ्या का खण्डन करने पर न्यायशास्त्र के अनुसार नित्यसम नामक जाति (-दोष) होगा । नित्यसम में ठीक ऐसा ही होता है—'अनित्यः शब्दः' इस वाक्य में पूछें कि यह अनित्यत्व स्वयं नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो धर्म (अनित्यः) के नित्य रहने पर धर्मी (शब्दः) को भी नित्य ही मानना पड़ेगा, क्यों न हो, धर्मी और धर्म तो एक ही तरह के रहेंगे न ? और प्रतिज्ञा के ठीक विपरीत 'नित्यः शब्दः' सिद्ध हो गया । दूसरी ओर अनित्यत्व यदि सदा नहीं रहता (अनित्य होता) तो अनित्याभाव अर्थात् नित्य शब्द की ही सिद्धि होगी (अनित्यता की अनित्यता = नित्यता) किसी भी दशा में ऐसा तर्क करना नित्यसम है, यह दोष है । नित्य तक पहुंचना नित्यसम है ।

प्रबोधसिद्धि में नित्यसम की तौल का ही एक शब्द उपरंजकसम दिया गया है जिसका अर्थ है ऐसा उत्तर देना जिसमें धर्म की उपरंजकता का प्रतिपादन हो । उपरंजक उसे कहते हैं जो विकल्पों का विचार उठने के पूर्व तक ही अच्छा लगे । 'प्रपञ्चो मिथ्या' या 'अनित्यः शब्दः' आदि वाक्यों में धर्म (मिथ्या

अनित्य) तभी तक लुभा सकता है जब तक विकल्प नहीं आते। विकल्पों के आते ही ठीक उलटे अमिथ्या या नित्यकी सिद्धि हो जाती है]। इस प्रकार पूर्वपक्षी पूर्णप्रज्ञ के मिथ्याखण्डक तर्क को असत् कहते हैं। अब पूर्णप्रज्ञ इसका उत्तर देंगे।

अशिक्षितत्रासनमेतत्। दुष्टत्वमूलानिरूपणात्। तद् द्विविधं साधारणमसाधारणं च। तत्राद्यं स्वव्याघातकम्। द्वितीयं त्रिविधं युक्ताङ्गहीनत्वमयुक्ताङ्गाधिकत्वमविषयवृत्तित्वं चेति।

तत्र साधारणमसंभावितमेव। उक्तस्याक्षेपस्य स्वात्मव्यापनानुलम्भात्। एवमसाधारणमपि। घटस्य नास्तितायां नास्तितोक्तौ अस्तित्ववत्प्रकृतेऽप्युपपत्तेः।

[पूर्णप्रज्ञ उत्तर देते हैं कि इस प्रकार जाति (गलत उत्तर) का आक्षेप लगाने से] मूर्ख लोग ही डर सकेंगे (हमारा इससे कुछ होना नहीं है)। आपने दोष के मूल का तो प्रतिपादन किया ही नहीं। [दोष के बीज का निरूपण बिना किये हुए किसी उत्तर को गलत (जाति) नहीं कह सकते]। अब, दोष का मूल दो प्रकार का हो सकता है—साधारण (General) और असाधारण (Particular)। इनमें जो पहला (साधारण दोषमूल) है वह अपने आपका ही विनाशक है [क्योंकि जिसके लिए इसका प्रयोग होता है उसको व्याप्त करने के साथ-साथ अपने को भी व्याप्त कर लेता है। इसलिए यह उत्तर आत्मघातक होने से ठीक नहीं। यदि कोई विरोधी अपने अभिमत की सिद्धि के लिए कुछ तर्क उपस्थित करता है तो उसके तर्क की अप्रामाणिकता तर्क से ही सिद्ध की जा सकती है। अब यह अप्रामाणिकता केवल विरोधी के तर्क को ही नहीं व्याप्त करती, प्रत्युत उस तर्क की अप्रामाणिकता सिद्ध करने वाले अपने तर्क को भी समेट लेती है।]

दूसरा भेद (असाधारण) तीन प्रकार का है—आवश्यक (युक्त) अंग से रहित हो सकता है या कोई अनावश्यक अंग उसमें अधिक हो सकता है या अविषय (असंगत स्थान) में उसकी वृत्ति (चाल, गति) हो सकती है। [इस प्रकार असाधारण दोषमूल भी ठीक नहीं जँचता।]

प्रस्तुत प्रसंग में 'साधारण' दोष की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि यहाँ दिये गये आक्षेप में अपने आपको व्याप्त करने की शक्ति नहीं है। [साधारण वही है जो पर की तरह अपने को भी व्याप्त करे। प्रस्तुत स्थल में 'प्रपञ्चगत मिथ्या तथ्य है या अतथ्य'—इसमें प्रपंचगत मिथ्या को ही दूषित कर सकते हैं, प्रपंच की सत्यता (जिसे दूषित करना अभीष्ट है) का इससे कुछ नहीं बिगड़ता। अतः

अपने अभीष्ट दूषणीय पदार्थ—प्रपञ्च की सत्यता—को व्याप्त न कर सकने से 'साधारण'-दोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रपञ्च की सत्यता पर लगाये गये आरोप व्यर्थ हैं।]

'असाधारण' दोष की भी प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि यदि वास्तव में [उदाहरणार्थ] घट नहीं रहे और हम कहें कि घट नहीं है तो यह निषेध-कल्पना घट पर उसी प्रकार आरोपित होती है जिस प्रकार अस्तित्व की कल्पना। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी सिद्धि होगी। [असाधारण दोष अपने अभीष्टार्थ को दूषित नहीं करता, फिर भी दूसरों की बातों को भी दूषित नहीं करता क्योंकि कहीं तो उसमें आवश्यक अंग नहीं रहता जैसे—कोई प्रतिपक्षी पहाड़ में अग्नि का अभाव सिद्ध कर चुका हो और हम अग्नि की सत्ता सिद्ध करते हुए कहें कि पहाड़ में अग्नि है जैसे रसोईघर में ; यहाँ एक आवश्यक अंग हेतु—'धूमवान् होने के कारण'—छूट गया जिससे यह उत्तर न तो अपने अभीष्ट अग्नि की सिद्धि ही कर सकता है और न प्रतिपक्षी के अभीष्ट 'अग्नि के अभाव' को ही दोषपूर्ण दिखा सकता—यह युक्तांगरहित असाधारण दोष है। कहीं-कहीं उसमें अनावश्यक अंग जुड़ा रहता है जैसे—उपर्युक्त स्थल के उत्तर में यह कहें कि पहाड़ में अग्नि है क्योंकि वहाँ धूम है तथा प्रकाश भी है वह पार्थिव भी है जैसा कि रसोईघर। 'यहाँ प्रकाश भी है' यह अनावश्यक अंग अधिक है किन्तु यह अपने अभीष्ट अग्नि की सिद्धि भी नहीं करता और पराभिमत 'अग्नि के अभाव' को दूषित भी नहीं करता। हाँ, यह अधिकांग अपने उत्तर में वक्ता का अविश्वास प्रकट करता है—इसमें योग्यता नहीं। कहीं-कहीं उसमें अविषय में वृत्ति होती है (अपने विषय से सम्बन्ध नहीं रहता)। उदाहरणार्थ यदि उत्तर में यह कहें कि पहाड़ पार्थिव है क्योंकि घट की तरह गन्धयुक्त है तो यह उत्तर अपने अभीष्ट (अभ्युपगत) अग्नि से संबद्ध नहीं है और न दूसरे के अभीष्ट 'अग्नि के अभाव' से ही असंबद्ध है। अतः न यह अग्नि की सिद्धि करता और न अग्नि के अभाव को ही दूषित कर पाता। प्रस्तुत प्रसंग में 'मिथ्या तथ्य है या अतथ्य' यह उत्तर न तो आवश्यक अंग से रहित है, न अनावश्यक अंग से युक्त और न प्रपंच की सत्यता विषय से ही असंबद्ध। तब फिर असाधारण दोष क्यों होगा ? विकल्प की उद्भावना करने से प्रपंच के मिथ्यात्व को दूषित कर देने पर प्रपंच की सत्यता की सिद्धि हो जायगी।]

ननु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमभ्युपेयते नासत्त्वमिति चेत्, तदेतत्सोऽयं शिरश्छेदेऽपि शतं न ददाति, विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छ-

तीति शाकटिकवृत्तान्तमनुहरेत्। मिथ्यात्वासत्त्वयोः पर्यायत्वादित्यलमतिप्रपञ्चेन।

अब यदि वे लोग कहें कि हम प्रपंच का मिथ्या होना सिद्ध करते हैं, असत् होना नहीं—तो यह ठीक वैसा ही हुआ जैसा कोई गाड़ीवान सिर काटे जाने पर भी सौ रुपये नहीं देता, किन्तु पाँच बीस (बीस × पाँच = १००) देने के लिए तुरत तैयार हो जाता है। मिथ्या और असत् दोनों का अर्थ एक ही तो है—अब अधिक बढ़ाकर क्या कहें ?

विशेष—शंकराचार्य के अनुसार मिथ्या और असत् में अन्तर है—जगत् मिथ्या है, किन्तु असत् नहीं क्योंकि व्यावहारिक दशा में तो उसकी सत्ता है। असत् वह है जो किसी भी दशा में न रहे जैसे वन्ध्यापुत्र, शशशृंग आदि। पारमार्थिक दशा में जिसकी सत्ता न हो वह मिथ्या है। परन्तु मध्व दोनों को एक मानकर व्यंग्य करते हैं कि मूर्ख गाड़ीवान सौ रुपये देता नहीं, ५ × २० देने को तैयार हो जाता है—उसे १०० और पाँच-बीस में बड़ा अन्तर मालूम पड़ता है। मिथ्या और असत् को एक मानने पर फल यह होता है कि मिथ्यात्व को दूषित करके सत्ता की सिद्धि हो जाती है। अतः यह उत्तर 'जाति' (Fallacious) नहीं है, वस्तुतः 'मिथ्यात्वं तथ्यमतथ्यं वा' आदि तर्क के द्वारा मिथ्या का खण्डन संभव है, (प्रपंच) संसार की सत्यता इसी से सिद्ध हो जायगी।

(१४. ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र का अर्थ)

तत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र० सू० १।१।१) इति प्रथमसूत्रस्यायमर्थः। तत्राथशब्दो मङ्गलार्थोऽधिकारानन्तर्यार्थश्च स्वीक्रियते। अतःशब्दो हेत्वर्थः। तदुक्तं गारुडे—

४४. अथातःशब्दपूर्वाणि सूत्राणि निखिलान्यपि।
प्रारभ्यन्ते नियत्यैव तत्किमत्र नियामकम्॥

४५. कश्चार्थस्तु तयोर्विद्वन्कथमुत्तमता तयोः।
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन्यथा ज्ञास्यामि तत्त्वतः॥

अब 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र के इस प्रथम सूत्र का यह अर्थ है—इसमें 'अथ' (इसके बाद) शब्द मंगल का द्योतक (व्यंजक) है और [ब्रह्मज्ञान के] अधिकार की प्राप्ति के बाद का वाचक है। [अथ शब्द का अर्थ मंगल नहीं है वह केवल इससे व्यक्त होता है। वास्तव में उसका वाच्यार्थ है—आनन्तर्य अर्थात् इसके बाद। पर प्रश्न उठता है किसके बाद ? ब्रह्म-ज्ञान का

अधिकार मिलने के बाद ही ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।] 'अतः' (इसलिए) शब्द का अर्थ है प्रयोजन। जैसा कि गरुड़-पुराण में कहा गया है—'सभी सूत्रग्रन्थ नियम (नियति) से 'अथ' और 'इति' शब्दों के द्वारा आरम्भ होते हैं, इसका क्या कारण है ?' [नारद ब्रह्मा से पूछते हैं]—'हे विद्वन् ! इन दोनों का क्या अर्थ है, इन दोनों की उत्तमता (श्रेष्ठता) का क्या कारण है ? हे ब्रह्मन् ! आप यह बतलावें जिससे मैं इनका रहस्य जान जाऊँ।'

४६. एवमुक्तो नारदेन ब्रह्मा प्रोवाच सत्तमः।
आनन्तर्याधिकारे च मङ्गलार्थे तथैव च ॥
अथशब्दस्त्वतःशब्दो हेत्वर्थे समुदीरितः। इति।

यतो नारायणप्रसादमन्तरेण न मोक्षो लभ्यते प्रसादश्च ज्ञानमन्तरेण, अतो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति सिद्धम्।

नारद के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर सज्जनों में श्रेष्ठ ब्रह्मा बोले—"आनन्तर्य, अधिकार और मंगल के अर्थ में 'अथ' शब्द होता है और 'अतः' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त होता है।" चूँकि नारायण के प्रसाद के बिना मोक्ष नहीं मिलता और ज्ञान के बिना यह प्रसाद नहीं मिलता, इसलिए ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह सिद्ध हो गया।

विशेष—किसी शास्त्र में चार अनुबन्ध होते हैं—विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध। वेदान्तशास्त्र का **विषय** ब्रह्म है। ब्रह्म जीव से पृथक् और सभी गुणों से पूर्ण है, श्रुतिवाक्य 'तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' (तै० ३।१।१) के द्वारा उसका प्रतिपादन होता है। उसके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है। सूत्र में भी जिज्ञासा का विषय ब्रह्म को ही बनाकर 'ब्रह्मजिज्ञासा' पद का प्रयोग किया गया है। इस शास्त्र का **प्रयोजन** है मोक्ष की प्राप्ति, क्योंकि 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ० पू० १।६) इस श्रुति में ब्रह्मज्ञान से मोक्षलाभ का वर्णन किया गया है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर ज्ञानियों को ब्रह्म के प्रसाद से मोक्ष मिलता है। कहा भी है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (का० २।२३)। जिस भक्त पर परमात्मा प्रसन्न होते हैं उसे अपनाते हैं, उसी भक्त को परमात्मा मिल सकते हैं। प्रेम बढ़ाने से ही कृपा होती है, परमात्मा प्रसन्न होते हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर प्रेम बढ़ ही जायगा। गीता (७।१७) में कहा है—प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। वेदान्त का यह प्रयोजन 'अतः' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। विषय और प्रयोजन की सत्ता होने पर **अधिकारी** की सम्भावना कठिन नहीं। इसके बाद अधिकारी और शास्त्र का **सम्बन्ध** निश्चित ही होगा।

इस प्रकार चारों अनुबन्धों के सिद्ध होने पर शास्त्र का आरम्भ करना बिल्कुल संगत है।

ब्रह्मविद्या के अधिकारियों में देवता उत्तम, ऋषि-गन्धर्व मध्यम तथा मनुष्य मन्द या अधम हैं। अधिकारियों में (१) विष्णुभक्ति, (२) अध्ययन, (३) शमदमादियोग, (४) संसार की असारता ध्यान में रखते हुए वैराग्य लेना तथा (५) विष्णु के चरणों में एकमात्र शरण लेना—ये गुण आवश्यक हैं। प्रथम दो गुणों की अधिकता से अधम, तृतीय की अधिकता से मध्यम और अन्तिम दोनों की अधिकता से उत्तम अधिकारी होता है।

(१५. ब्रह्म का लक्षण)

जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणमुक्तं 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) इति। सृष्टिस्थित्यादि यतो भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यार्थः। तथा च स्कान्दं वचः—

४७. उत्पत्तिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृतिः।
बन्धमोक्षौ च पुरुषाद्यमात्स हरिरेकराट्॥

यतो वा इमानीत्यादिश्रुतिभ्यश्च।

जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है उसका लक्षण बतलाया गया है—'इस (संसार) के जन्म आदि जिससे हुआ करते हैं' (ब्र०सू० १।१।२) वाक्य का अर्थ यह है कि सृष्टि, स्थिति आदि जिससे हों वही ब्रह्म है। स्कन्दपुराण की उक्ति भी है—'जिस पुरुष से उत्पत्ति, स्थिति, संहार नियंत्रण, ज्ञान, अज्ञान (आवृति), बन्ध तथा मोक्ष उत्पन्न होते हैं, वे ही एक मात्र सम्राट् हरि हैं।' यही नहीं, श्रुति का प्रमाण भी है—'जिससे सभी जीव···' (तै० ३।१।१)

विशेष—शंकर जन्मादि का अर्थ केवल सृष्टि, पालन और संहार लेते हैं। देखें—'जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः।······श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति, अस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्।······अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भावः इति जन्मस्थितिनाशानामिह ग्रहणम्।' (शारीरकभाष्य, १।१।२)। द्वैतवेदान्ती खींचखाँच करके आठ उत्पन्न पदार्थ लेते हैं। यों तो और भी संभव हैं। जो श्रुति इसका आधार है वह यह है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० ३।१।१)। तात्पर्य यह है कि उसी ब्रह्म से सारे पदार्थ जन्म लेते हैं, जन्म

लेने पर जीते हैं, उसी में लीन होकर प्रवेश कर जाते हैं। स्पष्टतः तीन ही विकारों का वर्णन किया गया है। पर मध्वपक्षी 'य आदित्यमन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा नियमन आदि भावों का संग्रह करते हैं।

(१६. ब्रह्म के विषय में प्रमाण)

तत्र प्रमाणमप्युक्तं 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तं त्वौपनिषदम्' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिभ्यस्तस्यानुमानिकत्वं निराक्रियते। च चानुमानस्य स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमस्ति। तदुक्तं कौर्मे—

४८. श्रुतिसाहाय्यरहितमनुमानं न कुत्रचित्।
निश्चयात्साधयेदर्थं प्रमाणान्तरमेव च॥
४९. श्रुतिस्मृतिसहायं यत्प्रमाणान्तरमुत्तमम्।
प्रमाणपदवीं गच्छेन्नात्र कार्या विचारणा॥ इति।

उस (ब्रह्म) के विषय में प्रमाण भी कहा गया है—'शास्त्रों में इसका स्रोत है (शास्त्रों से वह ब्रह्म ज्ञेय है)' (ब्र० सू० १।१।३)। 'उस महान् पुरुष को वेद नहीं जानने वाला व्यक्ति नहीं जान पाता (तै० ब्रा० ३।१२।९।७)', 'उपनिषदों में वर्णित उस पुरुष को (बृ० ३।९।२६)' आदि श्रुतियों से इस बात का खण्डन होता है कि वह अनुमान के द्वारा ज्ञेय है। [अशास्त्रज्ञ व्यक्ति के द्वारा ब्रह्म का अज्ञेय होना, उपनिषदों के द्वारा उसका ज्ञान आदि बातें स्पष्ट रूप से घोषित करती हैं कि ब्रह्म एकमात्र शास्त्रों के द्वारा ही समधिगम्य (जानने योग्य) है, अनुमान द्वारा इसका ज्ञान नहीं होता।]

अनुमान स्वतंत्र रूप से प्रमाण है भी नहीं। कूर्म-पुराण में तो कहा ही गया है—'श्रुति (शब्द प्रमाण) की सहायता से रहित होकर अनुमान या कोई भी दूसरा प्रमाण (प्रत्यक्षादि) निश्चित रूप से [अदृष्ट विषय की] किसी वस्तु की सिद्धि नहीं कर सकता (प्रामाणिक नहीं हो सकता)। श्रुति-स्मृति की सहायता मिलने पर ही कोई दूसरा प्रमाण (प्रत्यक्षादि) अच्छा हो सकता है और प्रमाण की कोटि में जा सकता है, इसमें विचार (संदेह) नहीं करना चाहिए।

शास्त्रस्वरूपमुक्तं स्कान्दे—

५०. ऋग्यजुःसामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम् ।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥
५१. यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम् ।
अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ॥ इति ।

शास्त्र का स्वरूप स्कन्दपुराण में कहा गया है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद; महाभारत, पंचरात्र और मूलरामायण (वाल्मीकि रामायण का प्रथम अध्याय)—ये ही ग्रन्थ **शास्त्र** कहलाते हैं, जो ग्रन्थ इनके सिद्धान्तों के अनुकूल हैं वे भी शास्त्र ही हैं। इनके अतिरिक्त जो भी ग्रन्थों का समूह है, वह शास्त्र नहीं है। उन पर चलना कुमार्ग पर चलना है। [अपने शास्त्रों का उल्लेख इस प्रकार हुआ।]

तदनेन, 'अनन्यलभ्यः शास्त्रार्थः' इति न्यायेन भेदस्य प्राप्तत्वेन तत्र न तात्पर्यं किन्तु अद्वैत एव वेदवाक्यानां तात्पर्यम्—इत्यद्वैतवादिनां प्रत्याशा प्रतिक्षिप्ता। अनुमानादीश्वरस्य सिद्ध्यभावेन तद्भेदस्यापि ततः सिद्ध्यभावात्। तस्मान्न भेदानुवादकत्वमिति तत्परत्वमवगम्यते। अत एवोक्तम्—

५२. सदागमैकविज्ञेयं समतीतक्षराक्षरम् ।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम् ॥
(वि० त० १) इति ।

अद्वैतवादियों का यह कहना है कि 'शास्त्र का अर्थ (प्रयोजन, आवश्यकता) वहीं है जहाँ दूसरे प्रमाणों के द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती हो' इस न्याय (नियम) से केवल अद्वैत में ही शास्त्रों का तात्पर्य (अर्थ) है, भेद (द्वैत) तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है इसलिए उसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं हो सकता। उनकी इस धारणा का खण्डन उपर्युक्त विधि से कर दिया गया। [अद्वैत की सिद्धि प्रत्यक्षादि से नहीं होती, शास्त्र यदि है तो अद्वैत के लिए—यह अद्वैतियों की धारणा है।]

अनुमान से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, फिर उसके भेद की भी तो सिद्धि उससे नहीं ही हो सकेगी। इसलिए इन श्रुतिवाक्यों में भेद का अनुवाद (व्याख्या) नहीं किया गया है, प्रत्युत ये शास्त्र ही भेदपरक हैं। ['अनन्यलभ्यः

शास्त्रार्थः' के न्याय से ही यह कहा जा सकता है कि भेद की सिद्धि किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती इसलिए शास्त्र का तात्पर्य ही भेद-प्रतिपादन में है। अनुमान के द्वारा भेद की सिद्धि नहीं होती। बस, इतना ही पर्याप्त है! शास्त्र का तात्पर्य ही उसीमें है।]

इसीलिए कहा गया है—'जो केवल श्रेष्ठ आगमों (शास्त्रों) से जाने जाते हैं, जो क्षर (प्रकृति) और अक्षर (जीव) को अच्छी तरह पार कर चुके हैं, जो सर्वथा निर्दोष हैं एवं सभी सद्गुणों (जैसे पूर्णानन्द आदि) से युक्त हैं वैसे नारायण को मैं सदा वन्दना करता हूँ।' (विष्णुतत्त्वविनिर्णय, मङ्गलश्लोक)।

(१७. शास्त्रों का समन्वय)

शास्त्रस्य तत्र प्रामाण्यमुपपादितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इति। समन्वय उपक्रमादिलिङ्गम्। उक्तं च बृहत्संहितायाम्—

५३. उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

ब्रह्म के विषय में शास्त्र की प्रामाणिकता भी सिद्ध की गई है—'किन्तु उसकी [प्रामाणिकता तो] समन्वय करने के बाद ही सिद्ध होती है' (ब्र० सू० १।१।४) [शास्त्र की प्रामाणिकता तभी सम्भव है जब विष्णु के अर्थ में ही उन शास्त्रों या श्रुतियों का समन्वय किया जाय। समन्वय का अर्थ है सम्यक् (ठीक) प्रकार से सम्बन्ध या अन्वय दिखलाना।] उपक्रम (आरम्भ) आदि चिह्नों के द्वारा समन्वय (शास्त्र के अर्थ का निर्णय) होता है। बृहत्संहिता में कहा गया है—'उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति शास्त्र का तात्पर्य निर्णय करने के समय लिङ्ग (चिह्न Mark) के रूप में रहते हैं।'

विशेष—श्रुति के अर्थ का संशय होने पर उपक्रम आदि लिंगों के द्वारा उसका निर्णय होता है, कम से कम तात्पर्य तो समझा जा सकता है, भले ही व्याख्या न हो सके। प्रतिपाद्य विषय का आरम्भ करना **उपक्रम** (Commencement) है। आरम्भ को देखकर बीच के वाक्यों का अर्थ अपने आप खुल ही जाता है। जब इसके बाद भी संशय रह जाय तो **उपसंहार** (Conclusion) का सहारा लें। विस्तारपूर्वक निरूपित बातों का सारांश करना उपसंहार है, जिससे अर्थनिर्णय में सहायता मिलती है। फिर भी यदि सन्देह रहे तो एक ही बात को एक ही प्रकार से कहे जाने वाले स्थलों अर्थात्

अभ्यास (Reiteration) का आश्रय लें। इसके बाद अपूर्वता (Novelty) का आग्रह है जिसमें किसी दूसरे प्रमाण से असिद्ध नई बात को दृढ़तापूर्वक कहा जाता है। संभव है कि नई बात के प्रतिपादन में ही श्रुति का अर्थ छिपा हो। प्रयोजन से युक्त होना फल (Result) है। इसकी आवश्यकता अपूर्वता के बाद पड़ती है। अपूर्वता में मुख्य का प्रतिपादन होता है जब कि फल में मुख्य वस्तु के उद्देश्य का वर्णन होता है। फल के बाद भी सन्देह होने पर अर्थवाद (Eulogy) का आश्रय लेते हैं जिसमें स्तुति या निन्दा का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन होता है। अन्त में उपपत्ति या युक्ति (Demonstration) ही सहायक होती है जिससे अर्थ का निर्णय होता है। इन लिङ्गों में पूर्वापर के क्रम से प्रबलता बढ़ती जाती है। कहा है—उपक्रमादिलिङ्गानां बलीयो ह्युत्तरोत्तरम्। मीमांसा-दर्शन में इन लिङ्गों का बड़ा महत्व है क्योंकि श्रुति में कहे गये विधिवाक्यों का अर्थ-निर्णय करना उनका प्रथम कर्त्तव्य है। विशेष विवरण के लिए लौगाक्षिभास्कर का अर्थसंग्रह या आपदेव का मीमांसान्यायप्रकाश देखना चाहिए।

(१८. पूर्णप्रज्ञ-दर्शन का उपसंहार)

एवं वेदान्ततात्पर्यवशात् तदेव ब्रह्म शास्त्रगम्यमित्युक्तं भवति। दिङ्मात्रमत्र प्रादर्शि। शिष्टमानन्दतीर्थभाष्यव्याख्यानादौ द्रष्टव्यम्। ग्रन्थबहुत्वभियोपरम्यत इति।

इस प्रकार वेदान्तों (उपनिषदों) का तात्पर्य जानकर वही ब्रह्म शास्त्र के द्वारा बोधनीय है—यही कहने का अभिप्राय है। हमने यहाँ केवल दिशा का निर्देश किया है, बाकी बातें आनन्दतीर्थ के [ब्रह्मसूत्र] - भाष्य के व्याख्यान आदि में देखनी चाहिए। ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से अब हम रुकते हैं।

विशेष—आनन्दतीर्थ या पूर्णप्रज्ञ (समय ११२०—११९९ ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा था जिससे द्वैतवाद का प्रवर्तन हुआ। इस भाष्य पर जयतीर्थ (११९३–१२६८), श्रीनिवासतीर्थ (१३००), विद्याधीश आदि ने टीकायें की हैं।

एतच्च रहस्यं पूर्णप्रज्ञेन मध्यमन्दिरेण वायोस्तृतीयावतारम्मन्येन निरूपितम्।

५४. प्रथमस्तु हनूमान्स्याद् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयश्च भगवत्कार्यसाधकः॥

एतदेवाभिप्रेत्य तत्र तत्र ग्रन्थसमाप्ताविदं पद्यं लिख्यते—

५५. यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने दिव्यानि रूपाण्यलं
बट् तद्दर्शतमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत्।
वायो रामवचोनयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपु-
र्मध्वो यत्तु तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे ॥
(म० भा० ता० ३२।१८१)।

पूर्णप्रज्ञ जो अपने को वायु का तीसरा अवतार मानते हैं तथा जिनका नाम मध्य-मन्दिर भी है, उन्होंने इन सभी रहस्यों का निरूपण किया है। [वायु के तीनों अवतार ये हैं—] 'पहले हनुमान् हैं, दूसरे भीम और तीसरे पूर्णप्रज्ञ—ये सब भगवान् के कार्यों के साधक हैं।' इसी को लक्ष्य में रखकर जहाँ-तहाँ (जैसे—ब्रह्मसूत्रभाष्य, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, महाभारततात्पर्यनिर्णय आदि ग्रन्थों में) ग्रन्थ की समाप्ति होने पर उन्होंने यह पद्य लिखा है—'(५५) वेद के वाक्यों में जिसके तीन रूप पर्याप्त रूप से मिलते हैं (कहे गये हैं), 'बडित्था' और 'तद्दर्शतम्' (ऋ० १।१४१।१) आदि श्रुतियों में इस रूप में ही (बट् = बलात्मक, दर्शतम्= ज्ञानपूर्ण) जिस वायु-देव के भर्ग (भरण और गमन) रूपी गुण और महत् नामक तत्त्व माने गये हैं, उस वायु का पहला शरीर वह है जो राम के सन्देश को [सीता के पास] पहुँचाने वाला है (= हनुमान् का अवतार), दूसरा शरीर पृक्ष (सेनानाशक, पृ = पृतना = सेना, क्ष = √क्षि = नाश करना, कौरव-सैन्य का विनाश करनेवाला) भीम का है और तीसरा शरीर मध्व का है जिनके द्वारा केशव के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया।' (महाभारततात्पर्यनिर्णय ३२।१८१)।

विशेष—हनुमान् का उल्लेख 'रामवचोनयम्' के द्वारा हुआ है। इसके तीन अर्थ हो सकते हैं। राम के वचनों अर्थात् संवाद को सीता तक पहुँचाने वाला; राम के विषय की बातें जैसे मूलरामायण, उसे शिष्यों तक पहुँचानेवाला; राम की वाणी द्वारा जो नय (आज्ञा) मिले उसको पालनेवाला। 'मध्व' शब्द में मधु और व हैं। मधु का आनन्द अर्थ है और व का तीर्थ, जिसका तीर्थ (शास्त्र) आनन्दकर हो। आनन्दतीर्थ नाम पड़ने का भी यही रहस्य है। कुल मिलाकर चार शब्दों से इनका बोध होता है—मध्वाचार्य, आनन्दतीर्थ, पूर्णप्रज्ञ और मध्यमन्दिर। मध्व के विषय में कहा है—

मध्वित्यानन्द उद्दिष्टो वेति तीर्थमुदाहृतम्।
मध्व आनन्दतीर्थः स्यात्तृतीया मारुती तनुः ॥

बलित्था आदि मन्त्र का अर्थ आगे देखें।

एतत्पद्यार्थस्तु 'बळित्था तद्वपुषे धायि दर्शतं देवस्य भर्गः सहसो यतोऽजनि' (ऋ० १।१४१।१) इत्यादिश्रुतिपर्यालोचनयाऽवगम्यत इति । तस्मात्सर्वस्य शास्त्रस्य विष्णुतत्त्वं सर्वोत्तममित्यत्र तात्पर्यमिति सर्वं निरवद्यम् ।

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे पूर्णप्रज्ञदर्शनम् ।

इस पद्य का अर्थ निम्न श्रुतियों का सम्यक् मनन करने से आता है—'देव (वायु) का वह दर्शनीय तेज (भर्गः) शारीरिक व्यवहार के लिए एवं बलप्राप्ति के लिए (बट्) इस प्रकार से (इत्था=इत्थं) धारण किया जाता है क्योंकि वह बल से (सहसः) ही उत्पन्न हुआ है।' (ऋ० १।१४१।१)। इसलिए सभी शास्त्रों का तात्पर्य यही है कि विष्णुतत्त्व ही सबसे अच्छा है। इस प्रकार सब कुछ ठीक (निर्दोष) है।

इस प्रकार श्रीमान् सायण माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में पूर्णप्रज्ञ-दर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां पूर्णप्रज्ञदर्शनमवसितम् ॥